वन्दे वाणी विनायकौ

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

वन्दे वाणी विनायकौ

लेखक
श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

१९५७
आत्माराम एण्ड सन्स
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली–६

प्रकाशक :
रामलालपुरी
आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य
तीन रुपया

मुद्रक :
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड दिल्ली

विषय-सूची

ये निबन्ध

मेरे साहित्यिक निबधों का यह पहला सग्रह है। किन्तु साहित्यिक निबध से यहाँ साधारण अर्थ नहीं लिया जाय। साहित्य की व्याख्या करने; रस, अलंकार आदि की कसौटी पर उसे कसने; कालों और वादों के घटाटोप रचने या तोड़ने का मेरा प्रयत्न नही। यह काम मेरे अन्य सहकर्मी अच्छी तरह कर रहे है।

साहित्य-सृष्टि मेरा व्यसन है। जिसे खेल-खेल में प्रारम्भ किया, वह मेरे जीवन की संचालिका बन गई है। यों कहूँ, तो व्यसन ही जीवन बन गया है।

अपने इस साहित्यिक जीवन के सिलसिले में मेरे मन में कुछ प्रश्न उठते रहे, कुछ समस्याये आती रहीं। उन प्रश्नों के उत्तर, उन समस्याओ के समाधान ढूंढ़ने के प्रयत्न में जो विचार मेरे मन में उठे, उन्हें लिपिवद्ध करता गया।

मित्रो का आग्रह हुआ, उन्हे पुस्तक रूप दे दिया जाय।

जब पुस्तक, तो एक नाम चाहिये। तुलसी ने बचपन से ही मुझे अभिभूत कर रखा है। उनके 'मानस' के प्रथम वन्दना-श्लोक में ही मुझे नाम भी मिल गया। वन्दे वाणी विनायकौ!—वाणी को वन्दना, विनायक को वन्दना या वाणी—विनायक को वन्दना!

हमारी वाणी अब विनायकत्व करे—यही है मेरी कामना! विनायकों के फेर में हम बहुत रहे। हम वाणी-पुत्र स्वय सोचें,—हम कहाँ है, हमें क्या करना है, हम साहित्य को किस दिशा में ले जायँ, हमारी भाषा कैसी हो, हमारी लिपि क्या हो? कुछ लोगो ने हमें वह जीव समझ रखा है, जिसकी पीठ पर जो भी बोझ, जितना भी बोझ, लाद दो!

यह स्थिति असत्य है। मेरा मन ही कुछ विद्रोही रहा है। अतः इन निबंधों में यदि आप यथास्थिति के प्रति कभी-कभी झुँझलाहट, क्रोध या विद्रोह पायें, तो मुझे छमा करे। वाणी की मर्यादा जानता हूँ, किन्तु कभी-कभी बेलौस कह देना भी वाणी की मर्यादा की रक्षा के लिए आवश्यक हो जाता है न?

—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

१

वन्दे वाणी विनायकौ

वाणी को वन्दे, विनायक को वन्दे ! नहीं, वाणी-विनायक को वन्दे !

तुलसीदास ने इन दोनों को मिलाकर जो वन्दना की, उसका कुछ अर्थ तो होना ही चाहिये।

वाणी जो विनायकत्व दे सके और विनायक जो वाणी से प्रेरणा ले !

आज वाणी ने विनायकत्व, नेतृत्व खो दिया है और आज के विनायक ने वाणी का तिरस्कार, बहिष्कार करना प्रारम्भ किया है !

आज वाणी विनायक की सहचरी नहीं, अधिक-से-अधिक अनुचरी है। विनायक की आज्ञा पर वह नाच रही है, गा रही है, वीणा बजा रही है !

और वाणी को इस स्तर पर उतारकर क्या विनायक भी सानन्द और सकुशल है ? उसके पैर भी लडखडा रहे है, उसको सदा डर लगा रहता है कि कब वह अपने आसन से भहराकर नीचे गिर पडे !

ओ मूषक-वाहन, तुम्हारी शोभा तब, जब हंसवाहिनी तुम्हारी बगल मे हो।

तुम लिखते जाओ, वह गाती जाय !

तुमने कलम एक तरफ रख दी, उसने वीणा अलग धर दी !

मूसा बिल्ली के डर से परीशान हो रहा है ! हंस को बगले आँखे दिखा रहे हैं।

क्या यह स्थिति दोनो मे से किसी के लिए शोभनीय है ?

इस स्थिति से उद्धार कैसे हो ?

पहले वाणी को उठना होगा, अपने पर-गौरव को समझना होगा। उसे मानना होगा, विनायक का आदिकारण वह है, पहले वह, तब विनायक।

वह वाणी कैसी, जो विनायकत्व न दे, नेतृत्व न करे!

यह देश तो ऋषियो का है। उन्होने जो लकीर खीची, उसी पर चलकर लोगो ने विनायकत्व प्राप्त किया!

और, इस विनायकत्व को भी तब स्वीकृति मिली, जब वाणी के किसी वर-पुत्र ने उसे अमरता प्रदान की।

हम जिस राम-कृष्ण की आराधना करते है, क्या वे दशरथ और वसुदेव के पुत्र-मात्र हैं? या अयोध्या और मथुरा के शासक-मात्र!

यदि वाल्मीकि और व्यास न होते, उन्हे वाणी का वरदान नही दिया होता, उनका नव-निर्माण नही किया होता, तो वे क्या आज यों घर-घर व्याप्त होते!

वाल्मीकि और व्यास के वशधर क्या इस गौरव को भूल नही गये है?

स्वय वाणी के वर-पुत्रो ने वाणी के झडे को झुका दिया है!

वाणी को उस गौरव-आसन पर फिर प्रतिष्ठित करना पड़ेगा।

किन्तु वह तभी सम्भव है, जब हम वाणी को उन उपकरणो से सभूषित करें, जिनकी ओर तुलसीदास ने रामचरित मानस के इस प्रथम श्लोक मे सकेत किया है।

वर्ण, अर्थ, रस और छंद—काव्य के ये चार सर्वमान्य उपादान हैं।

किन्तु वाणी मे विनायकत्व का समागम तब होता है, जब इन चारो के साथ मगल जोड़ दिया जाता है!

"मगलाना च कर्तारौ!"

हाँ, हमारी साधना का चरमविन्दु होना चाहिये, जन-मगल! सिर्फ मनरजन नहीं, जैसा हम मान लिया करते है!

मन-रंजन तो साहित्य का स्वाभाविक धर्म है।

उनकी सृष्टि ही ऐसी होती है कि मन-रंजन तो आप-ही-आप पधता है!

जिसमे वर्ण हो, अर्थ हो, रस हो, छंद हों—भला वह मन-रंजन की शक्ति नही रखे ?

यदि हमारी वाणी इस कार्य मे भी अक्षम है, तो हमें सोचना पडेगा, हम इनके प्रयोग में कही कोई त्रुटि तो नही कर रहे है ।

शब्द ब्रह्म है । ब्रह्म की ही तरह वह निर्गुण है । वह सगुण रूप तब धारण करता है, जब हम उसे अक्षरो मे बाँधते है ।

बडी तपस्या के बाद ब्रह्म को सगुण रूप धारण करने को बाध्य किया जाता रहा । शब्दो को अक्षरो मे बाँधने के लिए भी मानवता को कम तपस्या नही करनी पडी—बडी कडी, बडी लम्बी तपस्या !

किन्तु, ये अक्षर अब हम इतनी आसानी से प्राप्त कर लेते है कि हम उस तपस्या को भी भूल जाते है ।

उस तपस्या को भुला देने से उनका महत्त्व भी खो देते है !

अक्षर अमर है—अ-क्षर है !

किन्तु हमें अक्षरता से ही सन्तोष नही हुआ, हमने अपनी साधना द्वारा उनमे वर्णता का आरोप किया ।

"वर्णानाम्"—इसपर ध्यान दीजिये ।

वर्ण = रंग ।

हाँ, हमने अक्षरो में रग भरे, उनमे रगीनियाँ भरी ।

चित्रकारों के पास सिर्फ सात रंग ।

हमारे पास ४९ वर्ण—१२ स्वर, ३६ व्यंजन और उनके ऊपर ॐ !

इसीलिए हम ऐसे-ऐसे चित्र बना सके, जिनके सामने चित्रकारी की सारी रगीनियाँ मात ! उसे बाह्य अगो की भावभंगिमा पर ही सन्तोष करना पडा, हम हृदय की अन्तरतम भावनाओ को मूर्त्त रूप दे सके !

फिर चित्रकारो के चित्र लाख चेष्टा के बाद भी क्षणिक; हमारे शाश्वत ।

अधगुफा मे खिचे अजता के चित्र फीके पड गये है—धुल-पुँछ गये हैं !

किन्तु उनके सहस्रो वर्ष पहले की खिची वेदो की उषा-चित्रावली देखिये—

लगता है अभी-अभी उषा देवी सात घोडों वाले रथ पर सवार,

मुक्तकुंतल उड़ाती, गुलाबी गालों की आभा से अज-जग को रंगीन बनाती, पक्षियों को चहचहाती, बछड़ों को रँभाती, मानवों को कर्म-रत करती, कण-कण में स्फुरण और स्पंदन भरती हमारी आँखों के सामने क्रमश प्रत्यक्ष हो रही है।

हम सोचें, क्या हमारे वर्णों में वह वर्णता रह गई है ?

रंगीन रोशनाई से छपवाने से क्या अक्षरों मे वह रंगीनी आ सकेगी ?

जिसकी नींव ही कच्ची, वह इमारत क्या बुलंद होगी ?

अलग-अलग अक्षरों के अलग-अलग-रंग है—इसलिए एक ही अर्थ के भिन्न शब्दो मे अलग-अलग रंगीनी है।

इन रंगो को, इन रंगीनियो को पहचानिये !

और सिर्फ अर्थ पर नही जाइये, अर्थसंघ पर जाइये—"अर्थ-संघानाम्" !

अभिधा पर ही नही, लक्षणा पर, व्यंजना पर !

वाणी विनायकत्व तब धारण करती है, जब वह अर्थ से ऊपर उठकर अर्थसंघ पर पहुँचती है, अभिधा को इस ठोस पृथ्वी पर छोड़कर लक्षणा और व्यंजना के परों से सातवें आसमान तक की सैर करने की क्षमता अपने मे लाती है।

ऐसे वर्ण और यह अर्थसंघ ही रसो की—"रसानाम्"—की उत्पत्ति करते है।

रस अनुभूति की वस्तु है, हृदय की वस्तु है।

वाणी की सार्थकता तब सिद्ध होती है, जब वह मस्तिष्क से उतर कर हृदय को आसन बनाती है। हंसवाहिनी को मानस प्रिय है, यह भी क्या समझाने की बात रह गई ?

हमने वाणी को दिमागी कुलाँचो के प्रकटीकरण का साधन-मात्र बना दिया है ! इसीलिए हमारी वाणी चंचल मस्तिष्क में थोड़ी हलचल मचाकर ही उपशमित हो जाती है।

ऐसी वाणी में सरसता कहाँ, विदग्धता कहाँ ?

उसमे वह स्निग्धता और सजलता कहाँ, जिसमें—

"अनबूड़े बूड़े तिरे जो बूड़े सब अंग !"

हृदय से निकली वाणी ही हृदय में घर बनाती है और हृदय में पहुँचकर ही वह अमरता प्राप्त करती है !

और "छंदसाम् + अपि" = छंद "भी" हों, तो क्या कहने ?

किन्तु छंद क्या सिर्फ तुकों का मिलान या मात्राओं और वर्णों का जोड़-घटाव मात्र है ?

हर काव्यमय वाणी में एक स्वाभाविक समथर गति होती है, एक श्रुति-मधुर झंकार होती है। किन्तु गद्य में यह गति, यह झंकार लाना बड़ा ही कठिन काम है—इसी से कहा गया है, "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति !" कवियों के लिए गद्य कसौटी है !

तरह-तरह के वाद्ययंत्रों के सहारे गाने की अपेक्षा अकेला गाना, सिर्फ अपने कंठ से संगीत की मधुर-धारा बहाना, अवश्य ही कठिन कार्य है, दुस्साध्य कार्य है, यह कौन नहीं मानेगा ?

किन्तु नियमबद्ध छन्द ही सब कुछ नहीं है, इसीलिए शायद "छन्द-साम्" के बाद तुलसीदास ने "अपि" जोड़ा था !

जो हो, इन चारों उपकरणों से युक्त वाणी में मन-रंजन की शक्ति होगी ही !

और मंगल की भावना उसमें चार चाँद लगाकर रहेगी !

और ऐसी वाणी को विनायकत्व मिलकर रहेगा—विनायक उसकी उपेक्षा कर स्वयं विनायकत्व से अपने को वंचित कर लेगा !

आज वाणी इन उपकरणों से वंचित हो रही है, फलत: उसकी यह उपेक्षा, यह तिरस्कार !

यंत्रों की बहुलता ने वाणी के सेवकों से साधना की प्रवृत्ति दूर कर दी है। हल्दी लगे न फिटकिरी और रंग चोखा—हमारी यह प्रवृत्ति हो रही है !

यह प्रवृत्ति आत्मवंचना है, इस प्रवृत्ति के वशीभूत हो अनजाने ही हम आत्म-हत्या की ओर तो नहीं दौड़े जा रहे हैं ?

काते और ले दौड़े—किसी भी क्षेत्र में यह मनोवृत्ति सिद्धिप्रद नहीं। माँ-वाणी के प्रांगण में यह अक्षम्य अपराध है।

हर सेवा एक तपस्या है, वाणी की सेवा कठोरतम तपस्या।

तपते जाइये, जलते जाइये। सौ फूँक मे सोना ! जिसे कुन्दन बनना है, उसे कितनी फूँक चाहियें ?

अरे, कौन ऐसी प्रतिभा है, जिसे पसीने और आँसू का सागर नही तैरना पडा हो !

वाणी के हम वर-पुत्र इस तथ्य को सदा सामने रखे।

वाणी-माता हमसे यही आशा रखती है !

२

नया देश : नया समाज : नया साहित्य

वह जो अपना पुराना देश था न, वह १५ अगस्त, १९४७, को ही मर गया और उसकी चिता-भस्म पर एक नया देश बन रहा है बस रहा है !

हाँ, वह पुराना देश मर गया—जो गुलाम था, बूढ़ा था, सडा-गला था। सदियों के शोषण और दोहन ने जिसे रक्तहीन, मासहीन, स्नायु-हीन, प्राणहीन, स्पदनहीन बना दिया था। वह अस्थिककाल मात्र था—ठठरियो के ढेर को, उसके दुर्वह बोझ को हम कब तक ढोते रहते ? इसलिए अभी उस साल बडे धूमधाम से, नाचते, गाते, बजाते हमने उसे दफना दिया ! बूढ़े की अतिम यात्रा मे आनन्द-उत्सव न किया जाय, यह भी कोई बात होती। बडी शान से हमने उसे समाधिस्थ किया।

उसे समाधिस्थ किया, क्योंकि इस नये युग मे, हमें एक नया देश चाहिए—नया देश, जो युवा हो, सबल हो, स्वस्थ हो। जिसके पैरो मे जजीर न हो, जो स्वतत्र रूप से विचरण करे, आगे बढ़े, नये-नये अभियान करे। कितनी उत्ताल तरगें, कितने गगनभेदी शिखर उसके उन पैरों से चुम्बित-मर्दित होने के लिए प्रतीक्षा कर रहे है, जिसकी छाती में दम-खम हो, जिसकी भुजाओं मे कस-बल हो, जिसकी आँखो मे मर्मभेदिनी ज्योति हो—जिसके मस्तक मे कितने सुनहले स्वप्न आकुल-व्याकुल चक्कर काट रहे हो। वह देश, नया देश ! नया देश—जिसमे एक नये समाज के निर्माण की क्षमता हो, साहस हो, सूझ हो। जो आकाश के स्वर्ग को इस पृथ्वी पर उतार सके।

नया देश—नया समाज ! समाजहीन देश मिट्टी का ढेर है। हम कोरी मिट्टी की पूजा नही करेंगे। क्यो करेंगे ? मिट्टी सोना तब बन

आती है—वह अजनीया अचनीया वन्दनीया तब बन जाता है—जब उसपर समाज बसता है। और समाज तब तक मानवों का समूह-मात्र है, जब तक उसकी नीव में कोई सपना नहीं हो! सपना? सपनो की खिल्ली उड़ाने वाले दार्शनिक या वैज्ञानिक भूल जाते है कि उनके प्रयास और प्रयत्न स्वय सपने से प्रेरित है। जहाँ सपना नहीं, वहाँ मानव नहीं। जहाँ मानव नहीं, वहाँ समाज कहाँ और जहाँ समाज गठित न हो सका, वह भूमिखड, भूमिखड-मात्र है—देश की सज्ञा उसे मिल नहीं सकती!

सृष्टि के सुदूर काल मे हमें एक देश मिला। उस देश पर हमने एक समाज की सृष्टि की। हाँ, 'हमने'! याद रखिये, भगवान सिर्फ मिट्टी के खिलौने गढ़ता है—तभी तो उसकी कुम्हार से उपमा दी जाती है—वह खिलौना चार पैरो वाला हो; या दो पैरो वाला, या बिना पैरो का—छाती के बल सरकने वाला! यह तो मानव है, जो उन खिलौनो में नये प्राण की प्रतिष्ठा करता है, उन्हे नये ढग से सँवारता है, सजाता है—समाज बनाता है। तो, समाज हमने बनाया और ज्यो ही समाज बना; लो, माया गुरु के रूप में परिवर्तित हुई। बूढा विधाता आकाश से टुकुर-टुकुर देखता रहा, हम फासले पर फासला तय करते गये, बढ़ते गये, ऊपर की ओर चढ़ते गये और जब स्वर्ग को छूने से सिर्फ एक छलाँग की दूरी रह गई थी कि यह क्या हुआ? हमने अपने को एक गड्ढे में पाया—चारो ओर अधकार; असंख्य दीवारों मे घिरे हम किस तरह छटपटाते रहे, कराहते रहे!

किन्तु हम मनु के बेटे क्या यो गिरे-पडे रह सकते थे? देखो, हम फिर खुली हवा मे हैं—स्वतत्र हैं, पूर्ण स्वतत्र है।

हम पूर्ण स्वतत्र है और नये सिरे से एक नया समाज बनाने चले हैं, जो पूर्ण स्वतंत्र हो।

देश स्वतत्र हो और समाज परतंत्र रहे, यह हो नहीं सकता, हो नहीं सकता! पुराना देश परतंत्र इसीलिए हुआ था, कि उसमे समाज परतंत्र था। हम पुरानी गलती को फिर नहीं दोहराएँगे।

अब देश स्वतंत्र हो—समाज स्वतत्र हो।

पुराना देश गया, पुराना समाज जाय।

वह पुराना समाज जाय—जहाँ मानव मानव में विभेद है। विभेद—वर्ण का, वित्त का : आवास का, अवकाश का विकास का, प्रकाश का! यह रोगी समाज, कोढ़ी समाज ! यह जीर्ण समाज, यह शीर्ण समाज। जहाँ शरीर बँधा है, जहाँ आत्मा बँधी है! जहाँ पुरुष बँधा है, जहाँ प्रकृति बंधी है! नहीं, नहीं चलो, हम इस समाज को भी उस देश की बगल में ही दफना दें। जिस तरह ताजमहल में मुमताज की बगल मे शाहजहाँ दफनाया पड़ा है !

और हम बनावें एक नया समाज—एक नया ताज !

नया समाज : नया ताज—जहाँ सड़ाँध न हो, ठढक न हो, सन्नाटा न हो, अंधकार न हो! जहाँ जीवन हो, यौवन हो! आनन्द हो, उत्साह हो! सुगंध हो, संगीत हो! उन्मुक्त मानवता जहाँ अठखेलियाँ करे, स्वच्छन्द भावनायें जहाँ रास रचाये।

हाँ, नये समाज के साथ ताज गुँथा हुआ है! किन्तु ताज पत्थरों का नहीं—जिसे हवा के थपेड़े, प्रकृति के प्रहार, रह-रह कर खतरे में डाल दें। ताज अक्षरों का, जिसका क्षय नहीं, जो अजर हो, अमर हो।

अक्षरों का ताज—नया साहित्य !

नया समाज अपनी नींव के लिए नया सपना खोज रहा है।

यह नया सपना कौन देगा ? नया साहित्य !

पुराने साहित्य ने पुराने सपने दिये थे—हम ऊपर तो उठते गये, किन्तु अचानक लुढ़क पड़े। उसमें सिर्फ ऊँचाई थी ! चौड़ाई नहीं, मुटाई नहीं !

अब हमें नया साहित्य उत्पन्न करना है—जिसमें सिर्फ तीन "डाइमेंसस" न हों, हो चार डाइमेंसस ! लंबाई, चौड़ाई, मुटाई के साथ जो समय के घेरे को भी अपने मे निहित करे।

नया साहित्य ! जो सम्पूर्ण समाज की सम्मिलित वाणी हो—किसी वर्ण, वर्ग या व्यक्ति की ध्वनि, प्रतिध्वनि नहीं !

नया साहित्य—जिसमें विचार और भावना एक सूत्र में गुँथे हों। जो पृथ्वी के ओसकण से आकाश के इन्द्रधनुष का सम्बन्ध जोड़े। जो सूर्य-रश्मियों की स्वर्णिमा को राका की रजतिमा मे घुला-मिला सके। जहाँ

रंग, गंध और गीत समान अर्थवाची शब्द बन जायं !

नया साहित्य—कालातीत साहित्य, शाश्वत साहित्य—जिसे कोई युग अपने घेरे में नही बाँध सके।

आज एक कालिदास, एक तुलसी, एक रवीन्द्र पर नाज कर रहे हो, इठला रहे हो ! अरे, नया साहित्य तुम्हे गाँव-गाँव, गली-गली में ऐसे साहित्यकार देगा जिनके कर्तृत्वो पर इनके कर्तृत्व बच्चो के खिलवाड लगेंगे।

ऐसा कहकर हम अपने पूर्वजों का अपमान नही कर रहे है। हम बडे होगे, ऊँचे होगे, क्योकि हम इनके कधों पर खडे होगे !

इमारत की महिमा नींव की महिमा है !

हमारा पुराना साहित्य इतना विशाल रहा, इसी से हमे मान लेना चाहिये, हमारा नया साहित्य उस विशालता तक पहुँचकर रहेगा जिसकी हम आज तक कल्पना भी नही कर पाते !

नया साहित्य, नया समाज, नया देश ! या, नया देश, नया समाज, नया साहित्य। आज का नारा यही है !

यह प्रगति का नारा है, यही जीवन का नारा है।

इस नारे से घर-आँगन को गुंजित कर दो !

३

साहित्य की उपेक्षा

हम साहित्य को अपने जीवन मे वह स्थान नही देते, जिसका वह हकदार है। हम साहित्य को एक फालतू चीज समझते हैं। किसी व्यक्ति की राय का मखौल उडाना हो, तो आप कह दीजिये—यह साहित्यिक ठहरे न ? साहित्य को हम फुर्सत की, तफरीह की चीज मानते है। घर मे बेकार बैठे है, वक्त काटे न कट रहा है—आइये, किसी साहित्यिक कृति के पन्ने उलट ले। आज जी उदास है, मन भारी है, किसी काम में चित्त नही लग पाता—चलिये, बगल के किसी साहित्यिक दोस्त से दो-दो बहकी बाते कर आये। वह साहित्यिक यदि कवि हुआ, तो फिर क्या कहना ?

साहित्य की इस उपेक्षा, इस मखौल के लिए कुछ तो हम साहित्यिक खुद दोषी है। हम साहित्यिक स्वय अपने अस्तित्व का महत्त्व और गभीरता अनुभव नही करते। अपने को सृष्टि का एक अद्भुत जीव मानकर उसी के अनुरूप अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार तक रखने लगे है। हम साहित्यिक है, इसलिये हमारी पोशाक में एक विचित्रता होनी चाहिए, हमारे कपडो पर पान के धब्बे हमारी शोभा है, टिन के टिन सिगरेट फूंक जायें, तो बुरा क्या ? हम शराब भी पी सकते हैं, दुराचार के लिए भी हमें थोडी माफी मिलनी चाहिये ! बताइये, ऐसे जीवों को कोई समाज अपने यहाँ प्रतिष्ठा और गम्भीरता का पद कैसे दे सकता है ?

दूसरा कारण यह है कि हमारा यह युग राजनीति का युग है। कल तक हम पर बलिदान का भूत सवार था, आज प्रभुता की चुडैल सवार है। गुलाम देश जब अपनी जजीरे तोड़ने मे लगा था, तब उसकी आँखों

के सामने कोई दूसरी चीज दिखाई नही पडे, तो अचरज नही। और आज जब हम भुखमरो के सामने छप्पन व्यजन परोसे गये है, तो खा-खाकर बदहजमी कर ले, तो ताज्जुब की क्या बात ? राजनीति हम पर इस तरह छाई रही है कि दूसरी ओर ध्यान देने की हम फुर्सत ही कहाँ पाते थे ?

किन्तु जीवन में जो साहित्य का स्थान है, उससे आप ज्यादा दिनो तक उसे वंचित नही रख सकते। अभी तक आपने उसे वंचित रखा, उसी का कारण है कि आप प्रवचना में पडे हुए है।

दो पाव, दो हाथ, दो आँख, दो कान, की तरह ही हमारे जीवन की प्रमुख सचालिका शक्ति एक नही, दो है। एक है बुद्धि, दूसरी भावना। एक का उद्गम स्थान मस्तिष्क है, दूसरे का हृदय। एक का चरम विकास विज्ञान है, दूसरे का कला। हो सकता है किसी में बुद्धि का ज्यादा अश हो, फलत विज्ञान की ओर ही उसका झुकाव हो, यो ही भावना की प्रबलता किसी को कला का ही उपासक बना दे। किन्तु, फ्रायड ने हमें बताया है, हर मर्द मे औरत है और हर औरत मे मर्द—उसी तरह आप हर वैज्ञानिक मे कलाविद् पायँगे और हर कलाविद् मे वैज्ञानिक। यह हो नही सकता कि किसी में बुद्धि- ही-बुद्धि हो, वह भावना से परे हो ! और, हर भावुक को बुद्धिहीन मान लेना कोई बुद्धिमानी की बात नही है, यह तो आप मानेगे ही।

हमारी जिन्दगी की गाड़ी बुद्धि और भावना—इन दो पहियो पर चल रही है। आप बुद्धि की ओर तो ध्यान दे रहे है, किन्तु, भावना की उपेक्षा कर रहे है ! उसका फल भी आपको चखना पड रहा है।

बुद्धि के विकास और परिष्कार के साथ भावना को विकसित और सयमित करने की शिक्षा की भी आवश्यकता है। असंयमित भावना हमें गहरे गर्त मे गिरा दे सकती है। विकसित बुद्धि अविकसित भावना को लेकर बडी-से-बडी खुराफात करा सकती है ! भावना के विकास के लिए कला की शरण लेनी पडेगी। हमारी शिक्षण-पद्धति मे इस सिद्धान्त को आशिक रूप में मान लिया गया है। शिक्षा-पद्धति में साहित्य के अध्ययन के लिए खास स्थान रखा गया है। किन्तु, ज्यों ही हमने शिक्षा

समाप्त की, हम साहित्य से पूरा-पूरा मुँह मोड लेते है, यह गलत बात है। इससे व्यक्ति और समाज दोनो की हानि होती है।

साहित्य हमारी भावना को परिष्कृत करता है, हम में सुरुचि लाता है, हमारे चरित्र में स्निग्धता लाता है—सक्षेप में वह हमे सम्कृत बनाता है। इस आधार को छोडकर आप एक सुसम्पन्न समाज के निर्माण की कल्पना कर नही सकते। एक पहिये पर अपने जीवन-रथ को आप घसीट नहीं सकते। जिस दिन आप इस सत्य को समझ जायँगे, उसी दिन साहित्य की उपेक्षा आप मे से दूर हो जायगी।

साहित्य हमारे भावना-लोक से पैदा होता है। मनुष्य का भावना-लोक उसके बुद्धि-लोक की ही तरह विस्तृत है, विशाल है। उसमें अनेक क्षेत्र है। उसका एक-एक क्षेत्र अपनी रगीनी और सुख-साधन मे हजार-हजार स्वर्गलोक को मात कर दे सकता है। भावना की अनुचरी है कल्पना। स्वर्गलोक भी तो एक कल्पना-लोक है। फिर हम स्वर्गलोक को भी भावना-लोक का एक अग क्यों नहीं माने?

भावना-लोक के उन अनेकानेक क्षेत्रो को लोक-लोचन के सामने प्रत्यक्ष करके दिखाना कोई सहज बात नही है। यह अलौकिक कर्म है। ईश्वरीय विभूति से युक्त मानव ही यह कर्म कर सकता है। इसलिए हमारे शास्त्रो ने ईश्वर के समकक्ष ही कवियो और मनीषियो को रखा है।

यो तो मनीषियो और कवियो का महत्त्व समाज के लिए एक-सा है, किन्तु मनीषियो पर कवियों को एक श्रेष्ठता प्राप्त है। बुद्धि का ससार बहुत ही सूक्ष्म है, फलत. शुष्क है। इसलिए सर्वसाधारण का प्रवेश वहाँ सम्भव नही। भावना के ससार में रगीनियो की भरमार है, अत सुखानुभूति सबके लिए सुलभ है। नतीजा यह कि आज तक हम कपिल और कणाद को उतना नही जानते, जितना वाल्मीकि और व्यास को। और यह सवाल भी तो है ही कि हमारे समाज को अधिक प्रभावित किसने किया—कपिल-कणाद ने या वाल्मीकि-व्यास ने?

लेकिन मै मानता हूँ, आज के हम साहित्यिक ऐसे नही लगते कि हमें वाल्मीकि या व्यास के वंश से माना जाय! हमने अपनी सूरत बिगाड

ली है, चलन बिगाड लिया है। अगरेजी साहित्य मे आस्कर वाइल्ड और उसके सम-सामयिको ने जिस उच्छृङ्खलता की सृष्टि की, हम उसके शिकार हो गये है ? अगरेजी साहित्य मे आस्कर वाइल्ड के उन विचारो का आज कोई पुरसॉ-हाल नही, किन्तु, हम लकीर पीटते जा रहे है। उल्का की पूजा कभी नही हुई ! हम यदि साहित्य के चॉद-सूरज नही बन सकते, तो धूमकेतु बनने की चेष्टा नही करे। न तो यह भारतीय आदर्श है, न ससार के किसी भी सभ्य समाज का आदर्श। साहित्य भी एक साधना है, हम साधक बने—सच्चे साधक। फिर हमारी, और हमारी कृतियो की उपेक्षा हो नही सकती। तब हम फुर्सत और तफरीह की चीज न रह जायँगे—बल्कि जीवन के आधे अश के अधिकारी समझे जाकर मानवता की सारी प्रतिष्ठा और पूजा का आधा अश हमे अनायास प्राप्त होगा।

"कला-कला के लिए" का जो गलत नारा दिया गया, वह नारा यूरोप में कब न अपनी बुलन्दी खो चुका—किन्तु, हम उसी का अन्धअनुसरण करते जा रहे है। कारण क्या है ? हमारे साहित्यिक एक नई दिशा की ओर इगित कर रहे है—वह दिशा स्पष्ट हो नही पाई है। फलत समाज उस ओर सम्यक् ध्यान दे नही रहा है। इसी मे खीझकर अपनी पराजय के प्रतिकार के लिए, हमने इस नारे को अपनाया है। तुम हमारी बात नही सुनते, तो नही सुनो—हम कहे जायँगे ! हम कला का निर्माण कला के लिए कर रहे हैं।

यह बच्चों की मनोवृत्ति है। साहित्य भी समाज की ही पैदावार है। नये वैज्ञानिक आविष्कारो के प्रति भी प्रारम्भ मे उपेक्षा हुई, तो वैज्ञानिकों ने न उन आविष्कारो को छोडा, न अपने सिर फोडे ! धीरज से काम लिया, विजयी हुए। हम मे, जो साहित्य मे नई दिशा की ओर बढ रहे है, उनमे धीरज चाहिए। लोक हमारी ओर आयेंगे ही, आ रहे हैं।

हम साहित्यिक कही आसमान से नही उतरे है—हम सृष्टि के कोई विशिष्ट जीव नही है। साधारण लुहार, सोनार की तरह हम समाज के शिल्पी हैं और समाज के लिए निर्माण करते है। हमारे अपने औजार हैं, अपनी टेकनिक है। हमारा औजार ससार के सभी औजारो से बारीक है, नाजुक है। हमारी टेकनिक बडी ही कोमल है सुकुमार और पेचीदी भी

है ! जरा सोचिये, तो उजले कागज पर काली रोशनाई से हूबहू इन्द्र-धनुष की सृष्टि करना—जिसमें सब रंग अलग-अलग चमकें ! टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में प्रेम, घृणा, क्रोध, ग्लानि आदि भावों को यों लपेट देना कि आज भी वे हमारे हृदय को पुलकित, उद्वेलित उच्छ्वसित और द्रवित कर दें—यह कमाल किसका है ? यही कमाल है जिसने समाज के अन्य शिल्पियों पर हमारी श्रेष्ठता सिद्ध की। समाज ने इसे स्वीकार किया है—उसे करना पड़ा है !

हम साहित्यिक समाज के सबसे लाडले बच्चे हैं। हमारे नटखटपन ने कभी हमें चपतें भी खिलाई हों; किन्तु, घर की सबसे अच्छी चपातियाँ, मक्खन में चुभोकर, हमें दी गई हैं। किसी शेली, किसी कीट्स के कान समाज ने उमेठे, तो आज उनकी स्मृति-मूर्ति को हृदयासन पर बिठाकर षोडशोपचार पूजा भी वही दे रहा है। माँ-भारती की आराधना व्यर्थ नहीं जाती, साहित्य की साधना एक दिन मनोवांछित वरदान समाज से प्राप्त करती ही है।

साहित्य और समाज में माँ-बेटे का सम्बन्ध है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता है, साहित्य का विकास उसी क्रम से होता जाता है। हमारा भारतीय समाज संसार के प्रचीनतम समाजों में है। यह हमें ही गौरव प्राप्त है कि मानवता की प्रथम वाणी से लेकर आज तक के साहित्य के क्रम-विकास को समझने के लिए हमारे पास ही धरोहर है, अन्यत्र कहीं नहीं। मानवों के आदि पूर्वज जब जंगलों में रहते थे, तब से आज तक के, मशीन-युग तक के, मानवों के कण्ठ से निकली अजस्र साहित्य-धारा में जिसे अवगाहन करना होगा, उसे भारत में ही आना होगा। किन्तु, हमने स्वयं ही अपनी धरोहर का महत्त्व नहीं समझा है, तो दूसरा क्या समझेगा ?

जिस तरह पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'भारत का अनुसंधान' किया है, उसी तरह, काश, कोई विद्वान् हमारे साहित्य का भी पुनः संधान करने का कष्ट करता ! उफ्, वह एक अनमोल चीज होती।

एक बार जेल में अपनी इस साहित्य-धारा की एक झलक पाने की मैंने कोशिश की। जंगली जातियों के गीतों से लेकर आज तक की

साहित्यिक रचनाओं पर एक विहगम दृष्टि डाली। मुझे ऐसा लगा कि ग गंगा की धारा पकड़कर उसमें तैरता हुआ आगे बढ़ रहा हूँ।

जगलों के गीत—छोटे-छोटे वाक्य; सीधी-सादी उपमायें, गीत-गीत—नृत्य-नृत्य! मानो, गगा अभी-अभी गोमुखी से कूद रही हो! फिर वेद, गति तो यति भी—शब्दों में गम्भीरता, धारा में विस्तार, कल्पना की उड़ान, रूपक और उत्प्रेक्षायें—मानो गगा अब हरद्वार में आ गई है। और यह कालीदास है—गगा आधी मजिल पार कर काशी आ चुकी। एक सभ्यता अन्तिम साँस ले रही है, दूसरी निर्माण पा रही है। एक का प्रतिनिधित्व शकुन्तला कर रही, दूसरी का दुष्यन्त! जनपद समाप्त हो रहा है—भरत पैदा हुआ, अब एक देश (भारत) बनने जा रहा है। रघुवंश की दिग्विजय, मेघदूत का व्योम-विहार, कुमारसम्भव की केलि-क्रीडा। भारतीय समाज अपने ओज पर है। उसका साहित्य जमीन-आसमान को एक कर रहा है। फिर तुलसीदास—पटना की गगा! सारी नदियों से वह खिराज वसूल कर चुकी है—"नाना पुराण निगमागम सम्मतम्!" कितनी बृहत्, कितनी विशाल! हमने अभी तुलसी का महत्त्व नहीं समझा! और अब वह सहस्रमुखी होकर सागर से मिलने जा रही है जिसके प्रतीक हैं कवीन्द्र रवीन्द्र।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने हमारे साहित्य को विश्व-साहित्य से सम्मिलित करा दिया है। गोमुखी से निकली धारा अब सागर में मिलकर संसार-भर के तटों को चूमेगी। इसलिए हमारे साहित्यिकों की जिम्मेवारी और बढ़ गई है। अपने साहित्य का स्तर हमें ऊँचा करना है, अपनी टेकनिक को आधुनिकतम रूप देना है। तभी संसार में हमारी पूजा होगी।

पर यहाँ एक बात कह दूँ—विश्व-सहित्य की ओर का मतलब यह नहीं है कि हम अपने गाँवों को, गलियों को, झोपड़ों को भूलकर लन्दन, न्यूयार्क या मास्को के महलों के गीत गाने लगें। विश्व-साहित्य का यह मानी कभी नहीं है। पर्ल बक की "गुड अर्थ" एक देहाती चीनी परिवार की रोजाना जिन्दगी से मतलब रखती है, तो भी उसकी गणना विश्व-साहित्य के उज्ज्वलतम ग्रन्थों में है। विश्व-साहित्य होने के लिए कला में मानवता और टेकनिक में विशेषता चाहिये—उसकी पृष्ठ-भूमि जितनी

ही स्थानीय रहेगी, उतनी ही वह अच्छी समझी जायगी।

हमारा देश एक नये युग के दरवाजे पर खड़ा है। यह युग महान् होगा, उसका साहित्य भी महान् होना चाहिये।

उस महान् साहित्य के सृजन के योग्य हम साहित्यिकों को अपने को बनाना है। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने जिस तरह भौतिक साधनों के उपभोग के लिए नये-नये औजार बनाये हैं, उसी तरह वहाँ के साहित्यिकों ने साहित्य-सृजन की नई-नई टेकनिकों का आविष्कार किया है। भौतिक जगत् में जिस तरह हम उनकी टेकनिकों का उपयोग कर रहे हैं, साहित्य-जगत में भी हमें करना ही चाहिये। लेकिन हम उनसे सिर्फ टेकनिक लें, हमारी रचना की आत्मा तो भारतीय होनी ही चाहिये।

एक साहित्यिक की लेखनी सिर्फ लेखनी नहीं है—वह तलवार भी है, नश्तर भी, कुदाल भी है, और झाड़ू भी। गन्दगियों को हमें साफ करना है, बञ्जर भूमि को कोड़ना है। सड़े घावों को चीरकर पीब निकाल देना है। जहाँ भी अत्याचार हो, बेमुरौवत उसका सिर धड़ से अलग कर देना है। तभी हम एक सुन्दर समाज की रचना कर सकेंगे, तभी उस समाज में हम सुन्दर साहित्य का निर्माण करेंगे।

उस नये, सुन्दर, विश्व-व्यापी साहित्य के सृजन में हम तल्लीन हो जायें, फिर देखना है, कौन हम शारदा के वर-पुत्रों की उपेक्षा करता है?

पुरानी कथायें : नये रूप !

जब कोई लेखक किसी सृजनात्मक साहित्य—काव्य, उपन्यास, नाटक की रचना की ओर प्रवृत्त होता है, उसके सामने पहला प्रश्न यह होता है कि वह अपनी कथावस्तु कहाँ से ले।

कथावस्तु का पहला भंडार तो उसका अपना मस्तिष्क है, जहाँ उसके कितने ही अनुभव जाने-अनजाने भिन्न-भिन्न कल्पना-मूर्तियों के रूप में समाहीन होते हैं और वह उन्हें वहाँ से निकाल कर अपने लिए पात्र-पात्रियों और उनके इर्द-गिर्द मनमानी कथाओं की सृष्टि कर सकता है।

यहाँ वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता है। पात्रों के चरित्र और कथा के विकास को वह जैसा चाहे रूप दे। यह उसके अनुभवों की व्यापकता और कल्पनाशक्ति की उर्वरता पर निर्भर करता है कि उसकी पात्र-पात्रियाँ या उसकी कथायें कहाँ तक उसके पाठकों के हृदयों को अभिभूत करती हैं या वह किस हद तक सफल या असफल कहलाता है।

कथावस्तु का दूसरा भंडार है उस समय की लिखित या अलिखित आख्यायिकायें। अलिखित आख्यायिकायें वे,—जो लोगों में प्रचलित तो हों, किन्तु जिन्हें तब तक साहित्य में स्थान पाने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ हो। ऐसी आख्यायिकाओं को नये रूप देने में भी वह बहुत कुछ स्वतन्त्र होता है।

किन्तु जब वह लिखित आख्यायिकाओं की ओर आता है, तब उसके सामने एक विकट प्रश्न आता है, वह किस हद तक उनमें परिवर्तन या परिवर्द्धन कर सकता है ?

आलोचकों का एक दल है जो उसका हाथ पकड़ता और कहता है, बस यहीं तक, इसके आगे नहीं ! वह तर्क पेश करता है, यह पात्र या

पात्री या उसकी कथा इसी रूप में चली आई है, अक्षरो मे आकर वह अक्षरता प्राप्त कर चुकी है, तुम कौन होते हो कि इसमे परिवर्द्धन या परिवर्तन कर सको ? यदि स्वतन्त्रता चाहते हो, तो तुम्हे कौन मना सकता है नये पात्र या नई कथा गढने मे ? यदि इतनी शक्ति नही है, तो कलम रख दो, बैठ जाओ ! तुम्हे हमारे पुण्य पुरुषो, हमारी आदर्श नारियो के रूप और चरित्र को विकृत करने का कोई अधिकार नही है ।

मेरा खयाल है, ऐसे आलोचक सदा रहे होगे, हा, आज उनकी संख्या अवश्य बढ गई है । किन्तु, ऐसे आलोचको के बावजूद संसार के बडे-से-बडे साहित्य-स्रष्टा ने पुरानी लिखित आख्यायिकाओ को लिया और उनका मनमाने ढंग से परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया और आश्चर्य की बात यह है कि इन परिवर्द्धनो और परिवर्तनो के कारण ही वे आख्यायिकाये और उनके पात्र आज अमर है, लोगो के हृदयो और जिह्वाओ पर है ।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे "महाभारत", "रामायण" और "श्रीमद्-भागवत्" ये तीन ऐसे स्रोत रहे है जिनसे हमारे साहित्य-स्रष्टा कथाये लेते रहे है । इन तीनो ग्रथो के साथ धार्मिक भावना जुडी रही है और इनके कितने पात्र देवत्व और ईश्वरत्व तक प्राप्त कर चुके है । अतः सबसे पहले हम यह देखे कि इनसे कथावस्तु लेते समय हमारे साहित्य-कारो ने कौनसी नीति अपनाई !

महाभारत में शकुन्तला का उपाख्यान है । जन्मेजय की जिज्ञासा की तृप्ति के लिये महर्षि वैशम्पायन ने तीन-साढे तीन सौ श्लोको मे यह कथा महाभारत में बनाई है । वहाँ कथा बड़ी सीधी-सादी है । दुष्मन्त (दुष्यन्त नही) नामक राजा शिकार को जाता है, कण्व के आश्रम में पहुचता है, शकुन्तला उसकी अभ्यर्थना करती है, दोनो में गन्धर्व विवाह होता है, राजा राजधानी को लौटता है। कण्व जब आश्रम में आते है, यह समाचार सुनकर प्रसन्न होते हैं । कालक्रम से कण्व के आश्रम में ही भरत का जन्म होता है, फिर कण्व पुत्र सहित शकुन्तला को राजा के पास भेजते है । राजा कुछ हिचकता है, किन्तु पुरोहित के विश्वास दिलाने पर सपुत्र शकुन्तला को सादर ग्रहण करता है ।

कहाँ, यह सीधी-सादी कथा और कहाँ कालिदास का अभिज्ञान-

शाकुन्तलम् ! इस सीधी-सादी कथा मे न सखियाँ है, न दुर्वासा है, न अगूठी है, न मछली है, न राजा की विस्मृति है, न कश्यप के आश्रम मे भरत का जन्म है, न उसका सिंह-शिशुओं मे खिलवाड़ है ! क्या महा-भारत की कथा को ज्यो-का-त्यो लेकर कालिदास उस साहित्यिक कृति का निर्माण कर पाते, जिसे अनुवाद रूप से देखकर गेटे चिल्ला उठा था,—अद्भुत, परम अद्भुत !

वाल्मीकि की रामायण और तुलसी के मानस मे कितना अन्तर है ? कथा के जिन-जिन स्थलो के कारण मानस मानस है, वे सब तुलसी के कौशल हैं। जनकपुर की पुष्पवाटिका में राम-सीता की झाँकी का जो वर्णन तुलसीदास ने दिया है, उसकी चर्चा भी वाल्मीकि मे नही है और यदि एक इसी प्रसग को हटा दीजिये, तो मानस कितना छूँछा लगे। फिर उसी रामायण मे एक प्रसग लेकर माइकेल मधुसूदन ने जिस "मेघनाद वध" की सृष्टि की, उस पर ध्यान दीजिये, तो स्पष्ट हो जायगा, पुरानी कथाओं को नये रूप देने मे ही नही, उनके प्रमुख पात्रो के चरित्र को नये साँचे मे ढाल देने में भी, साहित्यकार को कितनी स्वतन्त्रता प्राप्त रही है।

यही हाल श्रीमद्भागवत का भी है। वहाँ राधा नाम की एक गोपिका की चर्चा तो आई है किन्तु उस राधा को लेकर एक बिल्कुल नवीन चरित्र का निर्माण तो पीछे के साहित्यकारो ने किया। और हमारे सूर ने बालगोपाल की जो छवि आँकी, वह तो उस अधे की ही अपनी सूझ-बूझ है !

कुछ आलोचक कहते है, हाँ, पौराणिक कहानियो मे तो इन बातों के लिए गुञ्जायश की जा सकती है, किन्तु जब तुम ऐतिहासिक पात्रों को लो, तब तुम्हे अपने को इतिहास की लक्ष्मण-रेखा के भीतर ही रखना होगा। इसका मतलब शायद यह हो कि पुराणो के उन चरित्रो को तो तुम भ्रष्ट भी कर लो, जो देवत्व तक प्राप्त कर चुके है, या ईश्वरत्व की भी जिनमे कल्पना की जा चुकी है, किन्तु इतिहास के उन पात्रो को मत छुओ जो मानवमात्र थे, और वीर या प्रेमी के रूप मे जिनके चरित्र का एक छोटा-सा भाग ही ससार के सामने आ सका, अधिकाश भाग

तो पर्दे के भीतर ही सड़-गल गया। निस्सन्देह, ऐसी बेमतलब की बात पर साहित्य-स्रष्टा को हँसी ही आयगी।

शेक्सपीयर ने इङ्गलैण्ड के इतिहास के आधे दर्जन पात्रों को अपने रंगमंच पर उतारा, किन्तु, इतिहास को रटने वाले देखें, इतिहास के उन पात्रों ने रंगमंच पर आकर कौन-से रूप धारण कर लिये है ? हमारे प्रसादजी ने भी, हमारे कितने ही महापुरुषों को नाटकीय रूप दिया है, किन्तु क्या इन नाटकों में उनके रूप वही हैं, जिन्हें हम इतिहास के पन्नों में देखते आये ? और कौन कह सकता है कि यदि शेक्सपीयर और प्रसाद नहीं होते, तो रिचार्ड सेकेण्ड या स्कन्दगुप्त लोगों के हृदयों में वह स्थान प्राप्त कर पाते, जो उन्हें इन महान् नाटककारों के कारण अनायास ही प्राप्त हो गया है !

इतिहास केवल घटनाओं का इतिवृत्त कहता है, किन्तु साहित्यकार उन घटनाओं के स्रष्टा के हृदय में पहुँच कर उनके स्रोत को पकड़ने की चेष्टा करता और उनकी धाराओं की लहरियों को उनकी पूरी रंगीनियों के साथ लोक-लोचन के समक्ष उपस्थित करता है। उसके हाथों में पड़कर रूखी-सूखी घटनायें सरस-सुन्दर और उसके निष्पन्द-निष्प्राण पात्र सजीव साकार हो उठते हैं। यों कहिये कि वह पाषाण-प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा करता है, बालू पर खिंची लकीरों को पयस्विनी बना डालता है। प्रतिमा बोल उठती है, सूखी लकीरें कल-कल छल-छल कर उठती हैं।

मैं मानता हूँ, इसकी भी सीमा होनी चाहिये, किन्तु मेरा कहना है, हर चीज की एक सीमा तो होती ही है। साहित्यकार भी अपनी सीमा जानता है, लेकिन वह यह भी जानता है कि उस सीमा के अन्दर उसे कितनी स्वतन्त्रता है। जब प्रसादजी अपने ऐतिहासिक नाटक लिख रहे थे, मुझे उनका सान्निध्य प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ था। सिर्फ पात्रों पर ही नहीं, उनकी वेष-भूषा की क्या बात, उनके मुँह से निकले एक-एक वाक्य पर उनका ध्यान था। किन्तु, इन सबके बावजूद उनका चन्द्रगुप्त उनका अपना चन्द्रगुप्त और उनकी ध्रुवस्वामिनी उनकी अपनी ध्रुवस्वामिनी है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी को उन्होंने एक नया

व्यक्तित्व दिया है, जो इतिहास के चन्द्रगुप्त या ध्रुवस्वामिनी से कही अधिक आकर्षक और मोहक है।

यहाँ जरा हम इसपर भी विचार करें कि आखिर साहित्य-स्रष्टा पुरानी कथाओं की ओर जाता क्यो है ? या तो कथानक के प्रति श्रद्धाभक्ति या आस्था उसे उस ओर ले जाती है या स्वय कथा मे ही वह उस चमत्कार को पाता है जिसका विकास करके अपनी अनुभूतियो विचारो या भावनाओ को मूर्तरूप देने मे उसे सहूलियत मालूम होती है। यदि कथा-नायक के प्रति उसकी श्रद्धाभक्ति हुई, तो उसमे वह ऐसे गुणो का आरोप करना चाहता है जिसपर मूल लेखक ने ध्यान नही दिया, किन्तु जिसके बिना वह उस नायक को कुछ अधूरा मानता है। और, गुण के आरोप के लिए कथा में कुछ नई कडियाँ जोडना लाजिम हो जाता है। वाल्मीकि के राम से ही तुलसी को सन्तोष नही था, उस राम को वह नये रूप में गढना चाहते थे, इसलिए उनकी राम-कथा ने भी नया रूप धारण कर लिया। और उसी राम-कथा मे उर्मिला के अस्तित्व का अभाव इतना खटका कि गुप्तजी को "साकेत" की रचना करनी पड़ी !

जब लेखक अपने विचारो, भावनाओ और अनुभूतियों का साकार करने के लिये पुरानी कथाओं को लेता है, तब और भी विचित्र घटना घटित हो जाती है। पुरानी कथाओ के अधिकाश भाग को छोडकर वह अपना ध्यान उसी ओर केन्द्रित करता है जिसके द्वारा उसके विचार, भावना या अनुभूति अधिक-से-अधिक विकास पा सके। तब तो वह पुरानी बोतल में बिल्कुल नई शराब भर देता है।

फिर साहित्य-स्रष्टा की कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिनका अनुभव बेचारे आलोचकों को नही होता। तुलसीदास ने कहा है—"बाँझ कि जान प्रसव की पीडा"। किसी कलाकृति के निर्माण में उसके स्रष्टा को हृदय और मस्तिष्क के जिन आडोलनों से गुजरना पडता है और पग-पग पर जिन कठिनाइयों का सामना करना पडता है, काश, उसके प्रशसको और निन्दको को उनका ज्ञान होता। किसी कथा को ले लेना सहल है, किन्तु कला के चक्के पर चढने पर उसका रूप आगे चलकर क्या होगा वह

स्रष्टा पर भी निर्भर नही करता। निर्माण की प्रक्रिया में ही ऐसी-ऐसी बाते आ जाती है, जिनकी पहले कल्पना भी नही की जाती। फिर टेकनिक की कठिनाइयाँ भी है। शकुन्तला पर आख्यान लिखना एक बात है और नाटक या काव्य लिखना बिल्कुल दूसरी बात। तीनो की शकुन्ताल तीन रूप की हो जायगी। कालिदास ने नाटक नही लिख कर शकुन्तला पर काव्य लिखा होता, तो वह शकुन्तला निस्सन्देह किसी दूसरी रूपरेखा की होती। फिर युग का प्रभाव भी लेखक पर पडता ही है। यदि कालिदास फिर अवतार ले, इस युग के वातारण मे पले और फिर से शकुन्तला लिखने लगे, तो वह शकुन्तला तीसरी ही शकुन्तला होगी, हमे यह निर्विवाद मान ही लेना चाहिये।

जो देश जितना प्राचीन होता है, वहाँ कथाओ का उतना ही बडा भण्डार सञ्चित होता जाता है। उस भडार से लाभ नही उठाना मूर्खता होगी। हमारे पूर्वज उनसे लाभ उठाते रहे है, हमे भी उनका उपयोग करना है। जिन तीन महाग्रन्थो की चर्चा हो चुकी है, उनमें अब भी इतनी कथाये हैं कि बहुत दिनो तक हम उनकी नीव पर नई-नई इमारते बनाते रहेगे। बौद्ध और जैन साहित्य की सहस्रो कहानियाँ तो अभी अछूती पड़ी है। फिर हमारे इतिहास के कितने नायक और हमारी भूमि के कितने खण्डहर हमारी लेखनी की प्रतीक्षा आकुलता से कर रहे है।

हाँ, पुरानी कथाओ को नया रूप देते समय कुछ खास बातो पर तो ध्यान देना ही होगा। सबसे पहले उस समय की सामाजिक प्रवृत्तियो का गहरा अध्ययन करना चाहिये। कथा से सम्बद्ध ग्रन्थो का अनुशीलन और स्थानों का निरीक्षण किये विना तो तत्सम्बन्धी रचना की ओर प्रवृत्त भी नही होना चाहिये। ऐतिहासिक घटनाओ के मूल पर विचार नही करने से तो प्राय ही अनर्थ होते रहे है। यदि इतनी बातों पर ध्यान रख लिया गया, तो उन पुरानी कथाओ के आधार पर ऐसी-ऐसी साहित्यिक कृतियाँ तैयार की जा सकती है, जो उनके रचयिताओ को अमरता देकर रहेगी !

५

साहित्यिकता और साधुता

जिसमें साधुता नहीं, वह साहित्यिक नहीं, हमारी यह मान्यता रही है। हिन्दी-साहित्य तो इसका जीवित प्रमाण है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा—ये हमारे श्रद्धाभाजन सिर्फ इसलिये नहीं है कि ये बड़े कवि थे, बल्कि इसलिये भी कि इनके जीवन में साधुता थी। जीवन की साधुता साहित्य में हृदय की वाणी उतार पाती है, वह सिर्फ दिमागी कुलाँचो का पुञ्ज नहीं रह जाता। मस्तिष्क का क्षेत्र तो विज्ञान है, गणित है। साहित्य, कविता मुख्यतः हृदय की उपजहै। और, वह हृदय क्या जिसमें साधुता, शालीनता, सज्जनता, स्नेहपरता, आर्द्रता नहीं हुई। छल, प्रपंच, षड्यन्त्र, धोखेबाजी—ये सब दिमाग की खुराफातें हैं। यदि साहित्य के क्षेत्र में इनका पदार्पण हुआ, तो बंटाढार हुआ। साधुता से ओतप्रोत हृदय जब अपनी साधना को वाणी प्रदान करता है, उच्च साहित्य का जन्म उस दिन होता है। हृदय की बात हृदय को अपनी ओर खींचती है। कबीर की अटपटी बोली में क्या है—किन्तु पढ़ने की अपेक्षा किसी दिन किसी भक्त के कण्ठ मे साधारण खंजड़ी पर उसे सुनिये, तो पाइयेगा, वह किस प्रकार आपको भाव-मुग्ध बना छोड़ती है! सूर के भ्रमर-गीत हृदय की मधुरतम भावना—प्रेम के वाणी-रूप है, इसीलिए वे हमें रुलाते है, तड़पाते है। तुलसी के राम उनके उस साधु-हृदय का प्रतीक है, जो निर्मल है, प्रोज्वल है, निष्कम्प दीप की तरह सतत ज्योतित है, सुख-दुःख से परे है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा
न मम्ले वनवासदुःखतः।

इसलिए तुलसी के राम हमें प्रिय हैं, उनका 'राम-चरित-मानस'

हमारा प्रिय साथी है। और सूली ऊपर पिया की सेज सजाने वाली हमारी मीरा! उनके गीतों में वह क्या है, जो हमारे हृदय को रस से शराबोर कर देता है! हाँ, हमारी यह मान्यता है, साधुता साहित्य की सबसे बड़ी मूल की, नींव की सामग्री है। इसके बिना आप वाणी के किसी टिकाऊ, सुन्दर, भव्य मन्दिर की स्थापना की कल्पना भी नहीं कर सकते।

किन्तु वही साहित्य जब दरबार में पहुँचा! कोई कालिदास, कोई विद्यापति वहाँ भी अपनी या अपनी वाणी की मर्यादा की रक्षा कुछ अंशों में करने में समर्थ हो सके हों। किन्तु अधिकांश तो यही हुआ कि दरबार की सारी बुराइयाँ उससे लिपट गईं। अपने रीतिकालीन कवियों को देखिये—साहित्य के नाम पर क्या-क्या न कुकर्म किये गये! व्यभिचार और दुराचार को छिपाने के लिए परकीया की सृष्टि की गई। सहेटों और संकेत स्थलों की विधिवत् रचना हुई। नारी-जाति के अंग-अंग को इस तरह नग्न करके दिखलाया गया कि लज्जा को भी लाज में गड़ जाना पड़े। नख-शिख-वर्णन की वह प्रणाली स्वीकार की गई जिसमें नारी-अंग की एक भी गोपनीयता गोपन नहीं रह जाय। फिर, रति-क्रिया का वह वर्णन!—उफ! एक दिन वह अवश्य आवेगा, जब इस साहित्य को पढ़ने और पढ़ाने के बदले इसकी होलिका जलाई जायगी। राजाओं की तारीफ में वह कहा गया कि झूठ की प्रपितामही भी मात खा जाय। चापलूसी और झुठाई को नाना प्रकार के "अलंकारों" के रूप में बदल दिया गया। सबसे बड़ा कवि वह, जो सबसे बड़ी झूठ का वटाटोप खड़ा कर सके। भाषा की भी गर्दन तराशी गई। भाषा हृदयगत भावनाओं की वाहिनी नहीं रही, वह सरकस की वह बन्दरी बन गई जो नाना तरह के करतब दिखा सके। शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार—क्या-क्या न अलङ्कार इन कवियों ने गढ़े, कोई सुनार भी उतने अलङ्कारों की कल्पना क्या खाकर कर सकता था?

युग बदला, दरबार उठा। बनिया-राज हुआ। साहित्य भी बाजार का एक माल बन गया। माल बनाने में, माल बेचने में जितने भी छल-प्रपञ्च किये जा सकते हैं, सब साहित्य में भी चालू हो गया है। व्यापा-

रियो की चोर-बाजारी पकड़ने के कानून भी है, किन्तु साहित्य की काले-बाजारी कौन पकड़े, कहाँ तक पकड़े। जो मर गये, उनकी कृतिया सबकी हो गई—वे उन्हे जैसे छापे, जैसे बेचें, जहाँ बेचे। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा—सबका श्राद्ध किया जा रहा है। वे लोग भी क्या समझते होंगे कि किन लोगों के पुरखे बनने का उन्हें सौभाग्य मिला है! उनकी कृतियो के जितने सम्करण, उतने पाठ-भेद! फिर टीकाकारो का बुद्धि-चमत्कार देखिये। कभी कोई जीवन भर परिश्रम करके एक ग्रथ का भाष्यकार या टीकाकार बन सकता था। अब तो एक ही आदमी हर प्राचीन ग्रंथ पर प्रामाणिक टीका प्रस्तुत करने की योग्यता रखता है। चार टीकाये सामने रख ली, नई टीका बना ली। कोषो की भी यही दशा है। "हिन्दी-शब्द-सागर" के लिये आधे दर्जन उच्चकोटि के विद्वानो ने वर्षों लगातार परिश्रम किया। लीजिये, रास्ता खुल गया—अब हर प्रकाशक का अपना "कोष" है, जो उसके रत्नकोष को दिन-रात भरा करता है। कालिजो मे हिन्दी की पढाई क्या शुरू हुई, हिन्दी साहित्य और भाषा की दुर्गति का शुभारम्भ हुआ। अब हर हिन्दी-प्राध्यापक (!) भाष्यकार है, आलोचक है। वह बड़ों-बडो पर फतवा दे सकता है और उसके फतवे को अकाट्य मान कर विद्यार्थियो को उस पर चलना है। नही चलोगे, तो परीक्षा-फल के समय देख लेना।

साहित्य के क्षेत्र मे जो छल, प्रपंच, षड्यन्त्र चल रहे है, उन्हे देखकर कितना क्लेश होता है। पत्र-पत्रिकाओ की सख्या मे बेहद वृद्धि हो गई है, क्योकि पत्र-पत्रिकाये भी व्यापार का एक अच्छा साधन बन गई है। बडी-बडी राटरी मशीनो का पेट भरना है। उनके लिए इतना साहित्य आवे कहा से? बस चोरी, सीनाजोरी, कालाबाजारी—सब कुछ चल रहे है। ज्यों ही कोई पुण्य-तिथि या उत्सव-पर्व आया, सब पत्र-पत्रिकाओ के मोटी-मोटी काया वाले विशेषाक निकालेगे। चिट्ठियो, तारों, तकाजों की भरमार। लेखक और कवि क्या करे? कुछ चतुर लोगो ने एक नया रास्ता निकाला है—एक ही कविता, लेख या कहानी कई जगहो में भजते है। जब वे छपते है, तब सम्पादकों को पता चलता है, उन्हें कैसा धोखा हुआ है। दो-चार साल पहले प्रकाशित पुराने लेखों,

कहानियों या कविताओं को जरा-सा उलट-पुलट कर भेजने में भी सकोच नहीं किया जाता। पत्र-पत्रिकाओं की एक नई बीमारी है, सम्पादक-मण्डल की। बस पाँच-सात बड़े लोगों को फाँसा, उनके नाम मण्डल मे दे दिये और फिर उन नामों को भँजाने लगे। हमारे वे श्रद्धेय विद्वान् समझते हैं, उनका सम्मान हो रहा है ! किन्तु वे कितनी बड़ी चोरबाजारी के हिस्सेदार बन रहे हैं, काश, वे सोच पाते। जहाँ तक हमें ज्ञात है, उन्हें इसके बदले कुछ मिलता भी नहीं है—खूनेनाहक के ये जीते-जागते उदाहरण है।

साहित्यिक सस्थाओं में घुसने से कुछ नाम हो जाता है, फिर उस नाम को भँजाया जा सकता है, उससे कमाया जा सकता है, इसीलिए साहित्यिक संस्थाओं मे घुसने और उनपर कब्जा करने की प्रवृत्ति ने इतना जोर मारा है कि हमारी बड़ी-से-बड़ी और अच्छी-से-अच्छी सस्थाएँ भी अपने भाग्य को रो रही है।

हम अपने साहित्यिक बन्धुओं से निवेदन करना चाहते है—मित्रो, यह क्या हो रहा है ? हम कहाँ जा रहे है ? हमारा यह सौभाग्य है कि साधुता की वह परम्परा मिटी नहीं है, हम मे अब भी ऐसे साधु-साधक है, जिनकी चरण धूलि को सादर मस्तक पर चढ़ाया जा सकता है, किन्तु, एक तो वे मुँह नहीं खोलते और अगर कभी बोलते हैं, तो उनकी सुनता कौन है ? कोयल चुप हो गई है, कौवे काँव-काँव से खोपड़ी खाये जा रहे है। क्या इन कौवों को इसी तरह करने दिया जायगा ?

हर पेशे के लिए चरित्र का एक मापदण्ड "कोड आफ कण्डक्ट" होता है, हमी एक हैं, जिन्हें सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है।

हम एक-दूसरे की पगड़ी उछाले, हम सुफेद को स्याह बतावे और स्याह को सुफेद, हम दूसरों की कीर्ति पर स्याही पोते, हम दूसरो की कीर्ति तक को हड़प ले। हम ईर्षा से जले, हम एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे, हम भारती की पीठ को अपवित्र और अपावन करे, हम एक-दूसरे की गर्दन नापने से नहीं चूके !

नहीं मित्रो, नहीं। यह हमारा काम नहीं है। यह हमारी परम्परा नहीं है। यह हमारे पुरखों की विरासत नहीं है। कबीर और तुलसी के

वंशजों के लिए यह शोभनीय नहीं है। संसार की कामनायें है, तो उनकी पूर्ति के लिए स्थानों की कमी नहीं। कोई दूसरा पेशा कीजिये, किसी दूसरे मन्दिर मे जाइये—गांधी के इस देश में भी भट्टियों, शराब-खानों की अभी कमी नही! वही जाइये ढालिये, बकिये—जो बक सके, सब माफ। साहित्य को, भारती के मन्दिर को अपनी बेहूदी बातों से, बेहूदी हरकतों से अपावन, अपवित्र मत कीजिये। मत सोचिये आपकी नकेल थामने वाला कोई नहीं, काल स्वयं एक ऐसा बलवान शास्ता है, जो बहुतों को मिटा चुका है, धूल में मिला चुका है। उसके सामने हम आप तो तुच्छ तिनके है! जब तक उसकी फूँक नहीं पड़ती, हमें सम्हल जाना है। साधुता और साहित्यिकता सहचरी है। कण्ठीमाला पहन कर मार्जारी कब तक धोखे देती रहेगी? व्याघ्र का वंश समाप्त नही हो गया है!

६

दो ताज !

गुप्त काल के बाद मुगल जमाना भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है। उस मुगल जमाने में दो ताज रचे गये—एक पत्थरों का, दूसरा अक्षरों का।

पत्थरों के ताज का रचयिता एक भू-स्वामी था और अक्षरों के ताज का रचयिता एक गो-स्वामी। दोनों की प्रेरणा में स्त्री थी—एक में स्त्री से आसक्ति, दूसरे में विरक्ति। (फ्रायड बतलाता है, आसक्ति और विरक्ति एक ही सिक्के के दो रूप हैं)। भू-स्वामी (शाहजहाँ) ने अपने अनुचरों से कहा—फैल जाओ मेरे द्वारा शासित इस विस्तृत भूखंड में और दूसरे राज्यों में भी, और जहाँ से, जिस कीमत पर भी, जो सुन्दर सुडौल पत्थर मिलें, उन्हें चुन लाओ। गो-स्वामी (इन्द्रियों के प्रभु) के पास अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सिवा दूसरे अनुचर कहाँ? उसने साधना द्वारा उन्हें प्रेरित किया कि जहाँ कहीं भी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् प्राप्त हो, उन्हें संगृहीत करो।

एक तरफ पृथ्वी का कोना-कोना ढूँढ डाला गया; दूसरी तरफ "नाना पुराण निगमागम" के अतिरिक्त "क्वचिदन्यतः" भी ले लिया गया। पत्थरों के ताज का निर्माण यमुना किनारे शुरू हुआ और अक्षरों के ताज का श्रीगणेश सरजू किनारे।

समय पाकर दोनों ताज तैयार हुए—यमुना किनारे "महल" बना, सरजू किनारे "मानस"। ये दोनों "ताज-महल" और "राम-चरित्र-मानस"—भारत की वैसी कला कृतियाँ हैं, जिनके समक्ष काल और पुरुष दोनों को ही, सर-नगूँ होने को बाध्य होना पड़ा, होना पड़ेगा।

मानता हूँ, पत्थरों के ताज की कद्र तुरत हुई, उसका लोहा तुरत

मान लिया गया और आज ससार के कोने-कोने से लोग उसे देखने को आते है और "न भूतो न भविष्यसि" कह कर उसके सामने सर झुकाते और चलते बनते है। लेकिन इसका कारण कला की उच्चता या हीनता नहीं है, बल्कि इसका भेद छिपा है—पत्थरो और अक्षरो में।

पत्थर की खूबसूरती साधारण आँखों से भी देखी जा सकती है। मूर्त सौन्दर्य पर अज्ञान के चर्मचक्षु भी अपलक हो जाते है। किन्तु अक्षर के अन्दर जो खूबसूरती है—उसके देखने के लिए तो "हिये की आँखे" ही चाहिये। काली-काली टेढी-मेढी लकीरों के अन्दर जो शतश इन्द्रधनुष छिपे है, उन्हे देखने-परखने के लिए तो कुछ योग्यता की आवश्यकता है। "महल" सब देख सकते है, देखते है, "मानस" का अवगाहन कितनों ने किया, कहाँ तक किया।

पर, हमे यह भी याद रखना है, पत्थर नश्वर है—वह धूप, वर्षा—समय के प्रहार—का शिकार है। किन्तु, अक्षर (अ-क्षर), अजर है, अमर है, बल्कि ज्यो-ज्यो समय बीतता है, उसका रग और भी उभडता, निखरता जाता है। तीन सौ वर्ष में ही 'महल" के कितने रंग उड गये, हो सकता है, जमाने का एक ही जबरदस्त थपेडा उसके धुर्रे उड़ा डाले! किन्तु, ज्यो-ज्यो वर्ष बीतते जाते है, शताब्दियाँ बीतती जाती है, 'मानस" की गहराई बढती जाती है, अवगाहनार्थियो की भीड भी बढती जाती है! भारत के कोने-कोने से ही नही, लदन और बर्लिन से ही नही, मास्को और लेनिनग्राद मे भी उसकी प्रशस्ति के पूत मंत्र सुनाई पडने लगे है! वह दिन दूर नही, जब ससार की श्रेष्ठतम कलाकृतियो मे वह आदर का स्थान पायगा!

हमारी कामना है, भारत के ये दोनो ताज अमर हो। पत्थरो के ताज और अक्षरो के ताज, यमुना किनारे पर बना "ताजमहल", सरजू किनारे पर प्रारम्भ किया गया "रामचरित मानस"! और जय हो इन दोनों के रचयिताओं की—शाहजहाँ की, गोस्वामी तुलसीदास की, क्योकि ये दो भारत के सर्वश्रेष्ठ कलाकारो मे है, और वे दो भारत की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियो में!

७

नव-निर्माण और साहित्य-स्रष्टा

सदियो के बाद हमारा देश एक नये रूप मे एक नये युग मे प्रवेश कर रहा है। संघर्षो का एक लम्बा अध्याय समाप्त हुआ और उसका स्थान अब नव-निर्माण ले रहा है। इस नव-निर्माण में हमारा क्या स्थान हो, हमे यह सोचना है।

निस्सन्देह नवनिर्माण की तरह-तरह की योजनाएँ सामने आ रही है। किन्तु क्या तब तक हम नवनिर्माण का कोई ठोस काम सम्पन्न कर सकते है, जब तक उसकी नीव में कोई सपना नही हो? हमारी हर योजना जो दो-चार कदम चलकर भहरा पडती है, ठप्प हो जाती है, उसका कारण क्या है—क्या हमारे राष्ट्र के कर्णधार इस पर विचार करते है? नई योजना को कार्यान्वित करने के लिए जो उमग, जो उत्साह, जो जोश, जो जाँनिसारी चाहिये, यदि वह नही है, तो पैसे क्या करेंगे? सिर्फ पैसा तो भ्रष्टाचार बढाता है। आज उसी का बोलबाला इसीलिए है कि हम मानव के अन्तर्मन को छूने मे असमर्थ रहे हैं। लोहे और सीमेंट के नीचे भावना चाहिये, सपना चाहिये—तभी निर्माण हो सकता है। यह सपना और भावना कौन देगा? साहित्य। हाँ, साहित्य, सगीत और कला की त्रिवेणी ही हमारे मन के मलो को धोकर हमें नये अनुष्ठानो के लिए, नये यज्ञो के लिए, तैयार कर सकती है।

खेद और दुख की बात है कि जिन्दगी-भर युद्धक्षेत्र की नीरसता और कठोरता में पलने वाले हमारे नेताओ के रूखे-सूखे दिमाग मे यह बात अँट नही पाती। देश-विदेश के हर तरह के लोगो को बुला-बुला कर वे सम्मेलन-पर-सम्मेलन करते जा रहे है, किन्तु साहित्य-स्रष्टाओं की पूछ उनके यहाँ नही। कभी हुई भी, तो सिर्फ दो घडी के लिए।

इसके लिए वे ही दोषी नहीं, हम भी दोषी है—क्योकि हमने भी अपना स्तर नीचे गिरा दिया है। जो अपनी मर्यादा स्वय नहीं जानता, उनकी मर्यादा दूसरे के सामने क्या होगी ? अटपटी सूरत, लटपटी पोशाक, उल्टी-सुल्टी-बाते—मध्ययुग के दरबारो ने शराब पिला-पिला कर हमे जो बर्बाद किया—उसकी झलक आज तक हमारे जीवन पर है ! किन्तु मध्ययुग कब का लद गया। यह नया युग है, इसमे हमारा नया उत्तरदायित्व है—हमे यह समझना है। जो हमें नही पूछते, उनके आगे-पीछे मंडराने की जिल्लत हम क्यो उठाये—बात ठीक है, यही हमारे गौरव के अनुरूप है। किन्तु, स्वतंत्र रूप से हमे अपने कर्तव्य का पालन तो करते ही जाना है। यही हमारी परम्परा भी रही है। हमारे हरिश्चन्द्र से लेकर देश के आजाद होने तक हममे से एक बड़े समूह ने देश-माता को स्वतंत्र करने के लिए देशवासियों के हृदयो मे जो एक सपना पैदा किया, उमंग और उत्साह भरे, त्याग और बलिदान की प्रेरणा उत्पन्न की, सो क्या किसी के कहने पर ? किसी की अनुनय या अनुज्ञा पर ? और यह प्रश्न भी तो है ही कि क्या अनुनय या अनुज्ञा पर सपनो की सृष्टि की भी जा सकती है ?

सरकार हमे नही पूछती, इस बात पर एक ओर खीझ होती हो, तो दूसरी ओर प्रसन्नता भी होनी चाहिये। क्योकि देश-विदेश के जो तजर्बे हमारे सामने हैं, उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि भाषा और साहित्य पर सरकार की छाया जितनी कम पड़े, उतना ही अच्छा। साहित्य-निर्माण के बारे मे हमारे सामने रूस का उदाहरण है। रूस ने अपनी पसद के साहित्य के प्रचार के लिए जितना किया है, वह किसी भी सरकार के लिए ईर्ष्या की बात हो सकती है। गोर्की-पुश्किन, लेनिन-स्तालिन की रचनाओं को जिस सस्ती कीमत पर, जितनी सुन्दरता और सफाई से जितनी बड़ी तादाद मे, संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओ मे उसने प्रकाशित और प्रचारित किया है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। किन्तु, जहाँ उसने नये साहित्य-निर्माण का कार्य कराया है, वहाँ तो निराशा ही निराशा दिखाई पड़ती है। वहाँ के साहित्यकार वहाँ की सरकार के चारण-मात्र बन गये है। सरकार की आलोचना करके तो उन्हे

फाँसी पर ही लटकने को तैयार हो जाना पड़ता है। सरकार के समर्थन में भी उन्हे एक खास तरीके को ही बरतना पड़ता है। जहाँ वे मानव-भावनाओ का चित्रण करते है, वहाँ भी वे अपने चारो ओर लक्ष्मण-रेखा खिची पाते है। वहाँ साहित्य साहित्य नहीं रह गया है, टकसाल में ढले-ढलाए सिक्के मात्र—जिनकी खास चाल, खास वजन, खास कीमत और हर सिक्के पर कीमत की छाप के साथ राज्य के सर्वेसर्वा के चेहरे की छाप भी।

साहित्य के बारे मे हमने जो रूस मे देखा, भाषा के बारे मे वही हालत अपने देश मे देख रहे है। कभी हिन्दुस्तानी के नाम से एक भाषा गढी जा रही थी अब राज्य-भाषा के नाम पर दूसरी भाषा गढी जा रही है। बड़ी दिलचस्प कहानी है—लाहौर का एक भाषाचार्य घर-द्वार गँवाकर दिल्ली आया। दिल्ली मे दाल न गली, तो वह नागपुर पहुँचा। नागपुर के पडितो के सामने उसने अपनी टकसाल की करामात रखी—देखिये, यह छूमन्तर। एक-एक साँचा और शब्दो के सौ-सौ सिक्के ले लीजिए। ऐसे साँचे ससार की किसी भी भाषा में है? क्या खाकर पायेंगे वे इन्हे। यह तो हमारी ऋषियो की भूमि है, जिसकी मिट्टी मे यह सिफत है। क्या कहते हो, समझते नही हो? जब सात समुन्दर पार की भाषा समझ गये, तो इन्हे नही समझ सकते। छी-छी, क्या कह गये। अजी, सोचो और सीखो। नही सीखोगे—तो इस भरत-भूमि मे रहने का क्या अधिकार? नागपुर की टकसाल मे ढली यह भाषा अब दिल्ली की छाप लेकर आज देश भर मे छा रही है। इसमे सबसे बडी मौत हो रही है हिन्दीवालो की। जो अन्य भाषा-भाषी है, उन्हे तो सीखना था ही, "क" नही सीखा "ख" ही सीख लिया। लेकिन जिन्होंने "क" सीख रखा था, उन्हे कहा जाता है, उस "क" को भूल जाओ और इस "ख" को ही "क" मानकर आगे बढ़ो। ज्ञान भी कभी बवाल-जान बन जाता है, उसका ज्वलन्त प्रमाण आज हिन्दी-संसार में देखा जा रहा है।

हमें और सरकार को भी समझ लेना है कि भाषा या साहित्य का निर्माण सेक्रेटेरियट मे नहीं किया जा सकता। भाषा गढी जाती है

जनता की जिह्वा पर, हाँ, जनता की खुरदरी, मोटी जिह्वा पर! कुछ ऊँचे वैज्ञानिक शब्दों को छोड़ दीजिए, तो हजारों-लाखों शब्द हमारे देहातों मे भरे पडे है—हमारे किसान, बुनकर, लोहार, बढई, मल्लाह, आदि टेकनिकल शब्दो का इतना बड़ा भडार अपने पास रखे हुए हैं कि उन्हे उनसे लेकर हम अपनी भाषा को बहुत कुछ सम्पन्न बना सकते है। कारखानो के मजदूरो मे, जहाजो के खलासियों में, होटलों के बैहरो में, ऑफिसों के चपरासियों मे ऐसे हजारो शब्द प्रचलित है, जो बहुत अशो मे हमारे बडे काम के सिद्ध हो सकते है। किन्तु, हम उनकी ओर ध्यान न देकर अग्रेजी और सस्कृत के कोषो के भ्रमजाल मे पडे हैं। ऐसा क्यो होता है? बात स्पष्ट है कि क्रान्ति तो जनता करती है, किन्तु जनता के प्रतिनिधि के नाम पर जो लोग शासनारूढ होते हैं, वे जनता के प्रतिनिधि भले ही हो, जनता के लोग नहीं होते, सत्ता प्राप्त होते ही उनका अभिजात्य अहकार उद्दीप्त हो जाता है और वे अपना रहन-सहन, भूषा-भाषा जनता पर लादना शुरू कर देते है। "गँवार' लोगो का अनुकरण या अनुसरण भला वे करें? यही भावना मास्को मे जादू फेर गई, यही भावना दिल्ली में करामात कर रही है। जहाँ मुनासिब यह होता कि कार्यकर्ताओ का एक झुण्ड जनता के भीतर घुसकर उनमें प्रचलित शब्दों का संग्रह करता, फिर भाषाविदो की मण्डली उनमे से काट-छाँटकर राष्ट्रभाषा के लिए शब्दो का सचयन कर लेती, वहाँ हो यह रहा है कि विशेषज्ञो के नाम पर ग्रथ-ज्ञानियो के एक बडे झुण्ड को सेक्रेटेरियट की ठडी टेबुल के चारों ओर बिठाकर कोष तैयार कराया जा रहा है।

शब्दों का एक और सचित भंडार भी है, हमारा देश बहुत बडा है, हर प्रदेश की एक-न-एक विशेषता है। इस विशेषता के कारण हर प्रदेश मे कुछ विशेष शब्द बन गये हैं, जो उस प्रदेश की पैदावार और पेशे की विशेषता को पूर्ण रूप मे प्रकट करते है। उनके वे शब्द उनके शब्दकोषो मे भी आ गये है। क्यों न उन शब्दो को हम उन कोषो से सीधे ले ले। मराठी-गुजराती, तामिल-तेलगू, बगाली-पजाबी आदि में ऐसे हजारो शब्द है, जिन्हे हम बडी आसानी से ले सकते है। और, जो विदेशी शब्द हम में प्रचलित हो चुके हैं, जिन्हे हमने पचा लिया है—

जो हमारी जनता की जबान पर चढ़ चुके है—उनके लिए नया शब्द ढूंढने और बनाने की चेष्टा तो मुझे पागलपन ही मालूम होता है। लेकिन, हमारे देश में पागलपन भी प्राय सिद्धपन के नाम से पूजा गया है न? हमारा पागलपन किस उच्चकोटि का है, इसका सम्पूर्ण परिचय तब मिले, जबकि पुरानी हिन्दोस्तानी और इस नई राज्यभाषा हिन्दी के कोष एक साथ प्रकाशित कर दिये जायं—वे ही लोग, उन्हीं की सरकार, किन्तु थोड़े दिनों के व्यवधान मे ही कितनी बड़ी बन्दरकूद दिखलाई है भाषा के हमारे मदारियों ने।

यो ही साहित्य के निर्माण का कार्य भी सरकारी छत्रछाया से जितनी दूर हो, साहित्य के लिए, मानव-कल्याण के लिए उतना ही अच्छा। हमारे वाल्मीकि और व्यास किसी राजा की छत्रछाया में नहीं थे और नही थे हमारे तुलसी और सूर। कभी किसी दरबार ने एक कालिदास दिया या एक विद्यापति, तो मै इन्हें अपवाद मानता हूँ, जो नियम को ही सिद्ध करते है। दरबारो मे पहुँचकर साहित्य किस कदर भड़ैती बन जाता है, इसका प्रमाण है हमारा रीति-काल। दरबार सिर्फ खिलाता ही नहीं है पिलाता भी है। और पीकर कितनो का दिमाग ठिकाने रह सका—चाहे वह पेय शराब हो, या अहकार। और उसका खिलाना-पिलाना क्या यो ही होता है—निरुद्देश्य होता है। नही, जितना खिलाता-पिलाता है, उससे अधिक वह गंवाता है, नचाता है। मध्ययुग मे भी यह बात थी, आज भी यही बात है। किन्तु नतीजा? बस, वही रीति-काल का नया सस्करण। नायिका बदल गई है, बात वही है। थोड़े ही दिनों में अपने देश में भी हमने देख लिया है कि सरकारी छत्रछाया का क्या अर्थ होता है? सूचना, प्रसार, प्रचार, जन-सम्पर्क, अनुवाद—चाहे जिस नाम से, जहां पर भी, ऐसे सरकारी विभाग है, उनमे रहने वाले साहित्यिकों को देखिये। जरूर उनके चेहरे पर ज्यादा खून और उनके शरीर पर ज्यादा गोश्त आप पायेंगे, किन्तु जब उनके निकट जाइये, लगता है, ठंडी अँगीठी के पास हम पहुंच गये हैं। लगता है, जैसे भावनाएं मर चुकी हैं, उनकी चिताये धुँधुआ रही है। वे वह नहीं कह पाते, जो उन्हे कहना है या जिसे कहने के लिए

प्रकृति ने उन्हें संवारा था। उन्हें वह कहना पड रहा है, जो उन्हें कहना नहीं चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा था—"किन्हे प्राकृत जन-गुन-गाना, सिरधुनि गिरा लागि पछिताना।" यहा स्पष्ट ही प्राकृत जन से उनका तात्पर्य था उस समय के बडे लोगो से—अमीर-उमराओ से, राजा-महाराजाओ से—जिनकी स्तुति-गाथा में उस समय के साहित्यिक फँसे हुए थे। तुलसीदास जी के इस सूत्र मे साहित्यिको के लिए एक शाश्वत पथ-प्रदर्शन छिपा है। किन्तु, नये युग में इसकी नई व्याख्या होनी चाहिए। प्राकृत-जन से भागकर बाबा ने आस्मान की ओर गर्दन कर लिया—हमे गर्दन को गद्दियो से हटाकर जमीन की ओर मोड़ना है।

साहित्य को अगर बहुरगी बनना है, सतरगी बनना है, तो उसे रगो के लिए जन-जीवन मे प्रवेश करना है। अजता की अपूर्व चित्रकारी के लिए उसके कलाकारो ने उसी के आस-पास की मिट्टी से, पत्थर से, पेडों की जड से, छाल से, पौदो की पत्तियों से, फूलो से रग संचित किये। हमारे साहित्य के लिए जो रंग चाहिएँ, वे हमारी चारो ओर, जन-जीवन में प्रचुरता से ओतप्रोत है—आँखें चाहिएँ, जो उन्हें देखें, पैर चाहिएँ, जो उन तक पहुँचे, हाथ चाहिएँ, जो उनके प्रयोग करें। आज का जो अपना साहित्य है, वह उतना रगीन क्यों नही है? क्योकि, हमारे कलाकार हाथ-पैर नही हिलाते। एक खास वृत्त के अदर अपने को बद किये कुछ विचारों, कुछ भावनाओ, कुछ चित्रों का चर्वित चर्वन करते हैं। जब मैं जेल में था, मैंने आधुनिक काल के अपने कुछ कलाकारो की कृतियो का इस दृष्टि से अध्ययन करना आरम्भ किया। लेकिन, मैंने उस काल को थोड़े ही दिनों के बाद इसलिए छोड दिया कि उस अध्ययन मे जो निष्कर्ष निकलने लगे, मैं उनसे कॉप उठा। कभी-कभी आदमी अपना ही चेहरा आईने में देखकर काँप उठता है न!

चाहे भाषा का निर्माण हो या साहित्य का, स्वतंत्र लेखक ही उसे सुचारु रूप मे सम्पन्न कर सकते हैं। उन्ही की कृतियाँ ही वे सपने दे सकेगी, जिनके आधार पर हमारे समाज का नवनिर्माण सही ढग से हो सकता है। स्वतत्र लेखक से मेरा अर्थ है—वह लेखक, जो किसी बाहरी प्रभाव में न हो और जो लेखन की वृत्ति से ही अपना जीवन

यापन करता हो। इस दृष्टि से देखिये, तो मालूम पड़ेगा हमारे यहाँ स्वतन्त्र लेखकों का कितना अभाव है। हमारे अधिकांश लेखक या तो अपने बाप-दादों की कमाई पर जी रहे हैं या पढ़ने-लिखने की किसी निश्चित जीविका में फँसे हैं —कोई प्रोफेसर है, कोई पत्रकार है, कोई वैतनिक मंत्री है, कोई वैतनिक प्रचारक है। किसी किसी ने प्रकाशन का पेशा भी अख्तियार कर लिया है। यह हमें मान लेना चाहिए कि राष्ट्रभाषा हो जाने के बाद हिन्दी पर जो उत्तरदायित्व आया है, उसका निर्वाह अवकाश में काम करने वाले इन लेखकों से नहीं हो सकता है। स्वतंत्र लेखकों का एक बड़ा समुदाय ही इस उत्तरदायित्व को सम्पन्न कर सकता है। किन्तु स्वतन्त्र लेखकों का ऐसा समुदाय बने कैसे, बढ़े कैसे ? इसके लिए सबसे पहला कर्तव्य तो है जनता का।

जनता हमारे कलाकारों का सम्मान तो खूब करती है, किन्तु उनके जीवन की ओर झाँकने का कष्ट नहीं उठाती। साल में एकाध उत्सव किया, लेखकों और कवियों को बुलाया, उनके गले में फूलों की मालायें डालीं, खूब खिलाया-पिलाया, चलते समय टिकट भी कटा दी और बड़ी कृपा की, तो दस-दस के एक-दो नोट थमा दिये। नोटों के इस प्रयोग से यह भी हुआ है कि अब सौदा पहले ही पटा लिया जाता है। किन्तु, इन सबके बावजूद उनका वह प्यारा कलाकार किस तरह जीवन बिता रहा है या ढो रहा है, इसकी ओर लोग ध्यान नहीं देते। तो, क्या मैं यह चाहता हूँ कि कुछ चंदे उठाये जायँ और लेखकों की भेंट की जाय ? नहीं, इसे तो मैं कलाकार का अपमान ही मानूँगा। कलाकार कुछ नहीं चाहता—यदि उसकी कृतियों का व्यापक प्रचार हो, इसमें उसकी समस्या हल हो जा सकती है। पाँच-छः पुस्तकों का लेखक भी बड़े मजे में जीवन बिता सकता है, यदि साल में उसकी हर पुस्तक की दो-तीन हजार प्रतियाँ भी खप जाया करें। अतः जनता का पुस्तकों के खरीदने का अभ्यास डालना स्वतन्त्र लेखक के अस्तित्व की पहली शर्त है। इस अभ्यास का प्राय अभाव है—नहीं पढ़ो, तो सबसे अच्छा, पढ़ो, तो उधार लेकर पढ़ो और हो सके तो उधार को लौटाओ मत। इस प्रवृत्ति ने हिन्दी के विकास को रोक रखा है।

लेकिन, मान लीजिये कि सभी लोग कुछ-न-कुछ किताबे खरीदना अपना कर्तव्य समझ ले, तब क्या यह मसला हल हो जायगा ? पाठक जो पुस्तके खरीदेगे, उनका एक उचित हिस्सा लेखको के पास अवश्य पहुंच जाय, जब तक यह व्यवस्था नही होगी, तब तक समस्या सुलझ नही सकती। यही सरकार का काम आता है। यदि सरकार इसमे लेखको की सहायता करे, तो समस्या सुलझ सकती है। आज "कापी-राइट" का कानून है, उसमें बेचारा लेखक एक बड़ा ही दयनीय और निरीह प्राणी है। जमीन पर काम करने वालो, कारखानो मे काम करने वालो, दफ्तरों में काम करने वालों, सबके हित मे सरकार ने कुछ-न-कुछ उपयोगी कानून बना दिये हैं जिनसे उन्हे कुछ सुविधाये अवश्य प्राप्त हुई हैं। किन्तु लेखको की स्वत्व-रक्षा की ओर एक-एक कदम भी नही उठाया गया है। हम सरकार से कहेगे—भगवन्, कृपाकर हमारी ओर एक-आध टुकड़ा फेकने के बदले यदि आप हमारे टुकड़ो के छीने जाने से हमारी रक्षा कर दे, तो हम आपके चिरकृतज्ञ रहेगे। कहा जाता है, कापीराइट की कानून तो अन्तर्राष्ट्रीय विषय है, इसमे भारत सरकार या प्रादेशिक सरकार क्या कर सकती है ? यह थोथी दलील है। सरकार यदि लेखको की रक्षा करना चाहती है, तो वह ऐसे कानून बना सकती है, जिससे उनकी कमाई के पैसे उनको आसानी से मिलते रहे। अच्छी कृतियों को पाठ्य-ग्रंथो के लिए स्वीकृत कर, उनकी प्रतियां वितरणार्थ खरीदकर या उन पर पुरस्कार देकर भी सरकार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकती है कि लेखक स्वतंत्र रूप से साहित्य-सृजन कर सकें। किन्तु इधर कुछ दिनों से, इस दिशा में जो अनाचार और भ्रष्टाचार फैल रहा है और इसके चलते लेखको में जो तू-तू-मै-मै मची हुई है, उसे देखते हुए वही पुरानी कहावत दुहराने की इच्छा होती है—"बखसो बिलार, मुर्गी बाँड़ होके रहिहैं"। किन्तु, मेरा विश्वास है यदि सरकार सदिच्छा और जागरूकता से काम करे, तो इस पद्धति से भी साहित्य को प्रोत्साहन अवश्य मिल सकता है।

यहाँ प्रश्न आदर्श का आ जाता है। निस्सन्देह, यह कलियुग है, सोने का युग है। सोना देखकर यदि हमारा मन चचल हो जाय, तो यह

स्वाभाविक ही है—उसकी प्राप्ति के लिए कभी-कभी हम अपने स्तर से नीचे उतर जायँ, तो वह मानव कमजोरियों की विजय है, जिनसे हम परे नहीं हैं। किन्तु, मानव मानव इसलिए है कि वह कमजोरियों से ऊपर उठ सकता है, वह युग की धारा को बदल दे सकता है, उलट दे सकता है। जिन ऋषियों ने "कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू" का नारा दिया, उन्होंने हम सरस्वती के सपूतों का ध्यान एक ऐसे ही आदर्श की ओर आकृष्ट किया।

आज वह समय आ गया है कि हम सोचें कि हमें किसका वाहन बनना है—सरस्वती का या लक्ष्मी का? सरस्वती के वाहन को अपने डैनों पर विश्वास होना चाहिए, अपने "नीर-क्षीर-विवेक" रखने वाले चंचुओं पर विश्वास रखना चाहिए। हमें गर्व होना चाहिए अपने उन श्वेत पंखों पर—जिन पर एक धब्बा न हो, एक दाग न हो! अरे, हम बादलों के ऊपर उड़ान भरने वाले हैं, मानस का रस पीने वाले हैं! गन्दी गलियाँ हमारी जगह नहीं, नाले और पनाले में हमारा पेय नहीं! हम वह पक्षी नहीं, जिसका खण्डहरों में ही बसेरा है, जिसकी चोंच टेढ़ी है, जिसके डैने उसे उस मुँडेरे से उस ठूँठ तक ही ले जा सकते हैं, जिनके पंखों पर धब्बे-ही-धब्बे हैं और जिसे रात में ही सूझता है। हाय, हम हंसों को यह हसद क्यों हो कि हम उल्लू न हुए? विधाता ने हमें यह रूप, यह रंग कुछ समझ-बूझकर ही दिया है। हमने अपनी सहज प्रवृत्ति से ही उस देवी को चुना, जिससे सोने की देवी सौतियाडाह रखती है। फिर हम अपनी झोली जहाँ-तहाँ क्यों पसारने चले? याद रखिये, हमारी झोली कोई भर नहीं सकता। अरे, हम तो भरी झोली को फूँक-कर ताप जाने वाले हैं। हरिश्चन्द्र एक नाम ही नहीं है, एक प्रतीक है—वह प्रतीक, जिसने ललकारकर कहा था—"ऐरे मूढ़ नृप तुम धन दिखलावे काहि, आसी न तुम्हारी ये निवासी कल्प-तरु के।" हाँ, हम कल्प-तरु की छाँह में क्रीड़ा-कौतुक करने वाले अमर लोक के प्राणी हैं। अमरता हमारी बपौती है—हम उस पीढ़ी से हैं, जिसने अक्षर को अपनाकर इस क्षर-क्षयमान संसार पर अपनी एक अमिट लकीर खींच

रखी है। फिर कैसी यह क्लीवता—क्यो आँखो मे ये आँसू, क्यो शरीर में यह कँप-कँपी ! अरे, नेतत्वय्युपदयते। यह तुम्हारे योग्य नही ! उठो नये परतपो, अपने शस्त्रो को सम्हालो। नया महाभारत नई गीता खोज रहा है। नव-निर्माण नया सपना माँग रहा है—उसे दो, दो।

८

हिन्दी का आधुनिक साहित्य

हिन्दी को भारत की राज्य-भाषा होने का, नहीं, स्वीकार कर लिये जाने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। इस स्वीकृति के लिये भी उसे कीमत चुकानी पड़ रही है। कुछ लोग तो इस प्रयत्न में लगे है कि उसकी जड जल्द-से-जल्द खोद दी जाय, कुछ लोग उसका रूप इस तरह से बिगाड़ रहे है कि वह पहचानी भी नहीं जा सके। कुछ लोगों को उसका यह नाम भी सह्य नही है, वह हिन्दी के रूप में ही परिवर्तन नही चाहते, उसका नाम भी बदल देना चाहते हैं। ऐसे लोगों मे पराये लोग ही नहीं हैं, कुछ अपने लोग भी हैं सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह ह।

पराये लोगो के प्रयत्न इन दिशाओ मे चल रहे हैं—वे कहते है हिन्दी बडी जटिल भाषा है, वह जनभाषा भले ही हो, उसमें प्रमाणिकता का एसा अभाव है कि उसे राज्य-भाषा बनाया जाना सम्भव नहीं, और अपने तर्क को बढाते-बढ़ाते वे इस छोर पर ले आते है कि हिन्दी में है क्या ? इसका प्राचीन साहित्य भले ही उन्नत हो, किन्तु, इसका वर्तमान साहित्य—छूँछा, छूँछा ! न इसमे कोई रवीन्द्र हुआ, न इकबाल। शरत्चन्द्र और मुशी भी इसमें कहाँ ? न कोई वैद्य या चाटुर्या इसमें हुआ। एक प्रेमचन्द—इन्हें कहाँ-कहाँ लिये फिरोगे ? और, एक चना कहीं भाड फोडता है ! वे बड़े जोर से समाप्त करते है,— हिन्दी का वर्तमान साहित्य ही कहता है, यह भाषा राष्ट्र-भाषा का पद पाने के योग्य नही।

सबसे बडी विचित्र बात यह है कि जब ऐसे तर्क पेश किये जाते है, हम भी पराजय बोध करने लगते है। हमे लगता है, सचमुच हमारा वर्तमान साहित्य बिल्कुल नगण्य है। यह तो तुलसी-कबीर की तपस्या रही या गाधीजी की महिमा कि हमारी भाषा राज्य-भाषा का पद

अनायास और अचानक ही प्राप्त कर सकी ! हम हीन-भावना से ग्रसित हो जाते है, हम बड़ी दीनता मे उनके तर्क की इस कड़ी को स्वीकार कर लेते हैं और उनकी उदारता के गीत गाने लगते है---महाराज, यह आप लोगो की कृपा है, महानता है कि हमारी तुच्छ भाषा को आप लोगो ने यह उच्च पद दे दिया है। आप लोगो को धन्यवाद, शतशः धन्यवाद !

घमड, अभिमान सदा बुरा है। रूप, धन, गुण, यश, किसी का घमड अच्छा नही। कहा जाता है, अभिमान भगवान का भोजन है---"गर्वप्रहारी राम", यह हम सब मानते है। जिसे जितना भी ऐश्वर्य प्राप्त हो, उसे उतना ही विनम्र होना चाहिए---फल से लदी डाली की तरह उसे झुक जाना चाहिए ! किन्तु, क्या विनम्रता का अर्थ हीन-भावना है ? क्या डाल को इतना झुकना चाहिए कि जो चाहे उसके फल का सहार करदे ? हर चीज की सीमा है, विनम्रता की भी सीमा होनी चाहिए। और, विनम्रता का अर्थ यह कदापि नही कि हम उन दोषों को भी स्वीकार करते जायँ, जो हमें लोगो की आँखो में नीच सिद्ध कर दे !

हम मानते है, हिन्दी के आधुनिक साहित्य मे रवीन्द्र या इकबाल नहीं है। लेकिन, देखना यह है कि बगला या उर्दू में ही कितने रवीन्द्र या इकबाल है ? दूसरा रवीन्द्र या दूसरा इकबाल ही कोई पेश कर दे ? यह तो बगला या उर्दू के विकास की शिथिलता या नवीनता का सूचक है कि जब हम तुलसी प्राप्त कर चुके, उसके तीन-साढे तीन सौ वर्षों के बाद बगला या उर्दू को रवीन्द्र या इकबाल पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ? किसी भाषा को एक कालिदास, एक तुलसी, एक रवीन्द्र, एक इकबाल मिल जाय, यही बहुत है।

किसी भी भारतीय भाषा से एक-दो नाम हटा दीजिये, फिर हिन्दी से तुलना कीजिये, तो हमारा दावा है कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य किसी भी भाषा के आधुनिक साहित्य से हीन या घटिया नही है। हाँ, यह हुआ है कि प्राकृतिक कारणो से किसी भाषा के किसी अग का अधिक विकास हो गया ! किन्तु, यदि पूरे साहित्य के विकास पर

ध्यान दिया जाय, तो विरोधियों को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी का साहित्य वैसा नहीं है, जैसा वह भ्रमवश मानते रहे है !

यह भ्रम क्यों हुआ ? और हम उनके इस भ्रम को क्यों तुरन्त स्वीकार कर लेते है ? हमें इस प्रश्न पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

हिन्दी का एक दुर्भाग्य यह रहा कि उसके पास न तो कलकत्ता रहा, न मद्रास, न बम्बई। आधुनिकता की देवी इस देश मे इन्ही तीन रास्तो से तो पधारी। अत हमें यह स्वीकार करने मे जरा भी हिचक नहीं है कि आधुनिकता की किरण हमारे यहाँ देर से पहुँची और आज तक हम उन वरदानो से बहुत कुछ वचित है जिन्हे यह देवी अपने भक्तो पर प्रचुरता से बरसाती रहती है। फिर, बगला, मराठी, तामिल भाषाओं के क्षेत्र भी परिमित रहे। नतीजा यह हुआ कि इस परिमित क्षेत्र में जो कुछ चीजे पैदा हुई, उन पर आधुनिक रग ही सबसे पहले नहीं चढा आधुनिक साधनो ने उनके रग को और भी चमकीला-भड़कीला बना दिया। इस उदाहरण के साथ यों कहिये कि इन भाषाओं को सुन्दर भवन मिला और इनके बोलने वालो के हाथ मे माइक भी रहा। नतीजा यह कि इनकी बाजी खूब गूँजी। उधर हिन्दी को एक बड़ा मैदान मिला—देवघर से दिल्ली और हिमाचल प्रदेश से मध्य-प्रदेश तक का विशाल, विस्तृत क्षेत्र, किन्तु माइक ही नदारद। एक कोने की वाणी दूसरे कोने तक पहुँचने ही नहीं पाती, गूँज की बात ही क्या ?

हमने दुख के साथ देखा है कि बिहार मे साहित्य का जो निर्माण हो रहा है, उससे दिल्ली वाले बिलकुल अपरिचित है। यो ही मध्यप्रदेश में जो कुछ किया जा रहा है, हिमाचल प्रदेश वालो को उसकी खबर भी नहीं। हिन्दी क्षेत्र की विशालता ही उसकी प्रगति मे बाधक बन रही है—जो वरदान होना चाहिए, वह अभिशाप सिद्ध हो रहा है। फिर पटना, इलाहाबाद, लखनऊ, जयपुर, ग्वालियर, जबलपुर या रीवा में कोई ऐसा जबर्दस्त प्रचार का साधन भी नहीं कि हिन्दी साहित्य की प्रगति को वह देश के कोने-कोने तक पहुचा सके। यह काम प्राय. अंगरेजी

अखबारो द्वारा ही मम्भव हो सकना था—इन क्षेत्रों में कहाँ ऐसे अखबार है ?

हम फिर उदाहरण पर आते है—विहार के दो बगाली लेखको को लीजिये। 'वनफूल' को और 'सतीनाथ भादुडी' को। एक का घर भागलपुर है, दूसरे का पूर्णिया ! आज देश मे इन्हे जितनी प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है, क्या वैसी प्रसिद्धि विहार के किमी हिन्दी-लेखक को प्राप्त हुई ? भादुडी की एक पुस्तक "जागरी" ने उसे यश और धन से तोप दिया ! क्यो ? ज्यों ही यह पुस्तक कलकत्ता में छपी, वहाँ के सभी अगरेजी पत्रो मे उसकी प्रशंसा छपने लगी—"स्टेट्समैन" मे भी उस पर विशेष लेख निकला—फिर क्या था, उस अज्ञात लेखक ने एक पुस्तक मे ही भारत के साहित्यिक क्षेत्र मे अपने लिए स्थान प्राप्त कर लिया ! "बनफूल" को भी इतनी प्रसिद्धि किसने दी ? कलकत्ता ने, वहाँ के आधुनिक प्रचार साधनों ने ! जिसे विहार मे उसके मुहल्ले के लोग भी नही जानते, वह बगाल के घर-घर मे ही व्याप्त नही है, भारत के साहित्य-जगत ने भी उसकी कृतियो पर स्वीकृति की मुहर लगा दी है !

कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रूपक, आलोचना, इतिहास, राजनीति, अर्थनीति, विज्ञान, दर्शन—साहित्य का कौन ऐसा अग है, जिस पर हमने ऐसे काम नही किये, जिसके लिए हम लज्जा बोध कर सके ? पहले हम इतिहास विज्ञान और दर्शन को ही ले। सिर्फ शोध को लीजिये, तो हम मराठी के सामने सादर सिर झुका लेगे—लेकिन, काशीप्रसाद जायसवाल, गौरीशकर हीराचन्द ओझा, जयचन्द्र विद्यालंकार, राहुल साकृत्यायन और उनके पीछे लगभग एक दर्जन नौजवान लेखको ने इस क्षेत्र में जितना काम किया है, उस पर किसी भाषा को भी नाज हो सकता है। स्वर्गीय रामदासजी गौड से लेकर श्री फूलदेवसहाय वर्मा तक आधे दर्जन से ऊपर के चोटी के लेखकों ने हिन्दी को जो वैज्ञानिक साहित्य दिया है, क्या उससे अधिक किसी भी प्रादेशिक भाषा मे वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध है ? दर्शन की तो हमारी भूमि रही है—डा० भगवानदास ऐसा दार्शनिक किस प्रादेशिक भाषा को प्राप्त है ? हिन्दी के दार्शनिक साहित्य मे एक दर्जन ऐसी पुस्तकें छाँट ली जा सकती है, जिन्हे

हम किसी भी भारतीय भाषा की दार्शनिक पुस्तकों के समकक्ष गौरव के साथ रख सकते है ।

कविता को ही लीजिये—विषय और छन्द मे हमने जितने प्रयोग किये है और करने जा रहे है, उनका महत्त्व यदि हमी अच्छी तरह नही समझ पाये, तो दूसरे को क्यों उपालम्भ दे ? कहानी और उपन्यास मे प्रेमचन्द के बाद भी हमने बहुत कुछ किया है—उतना किया है कि इस विषय को लेकर भी लज्जाबोध करने का हमारे लिए कोई कारण नही ! हिन्दी ससार भर में रगमच नही होने पर भी, नाटक, रूपक मे भी हम कुछ ऐसी कृतियाँ दे पाये है जिन पर हम गर्व कर सकते है । हमारा आलोचना साहित्य भी काफी तगडा है ! राजनीति और अर्थनीति पर भी हमने कुछ गौरव-कारी ग्रथ रचे है ।

हमने किया बहुत है , किन्तु, वे चीजें ऐसी बिखरी-बिखरी हैं, कि उनका सामूहिक महत्त्व हम स्वय नही समझ पाते है । इसीलिए जब कोई हमें कह देता है, आपका आधुनिक साहित्य क्या है, तो हम शरमा जाते है । पराये लोगो को हम दोष क्यो दे, जब हमीं अपने साहित्य से अपरिचित है ।

इस सम्बन्ध में कुछ किया जाना चाहिए । हम समझते है, सब से पहला काम तो यह होना चाहिए कि हिन्दी के आधुनिक साहित्य की उत्तमोत्तम पुस्तको की एक सूची तैयार की जाय । यह सूची विवरणा-त्मक होनी चाहिए, पुस्तक के लेखक और विषय का सक्षिप्त परिचय भी दिया जाय । यह सूची सिर्फ हिन्दी में नही हो, अगरेजी, उर्दू, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, बगला आदि भारत की सभी प्रमुख भाषाओ में इसके संस्करण निकलने चाहिएँ ।

अभी यह सूची बहुत बडी नही होनी चाहिए—सौ से लेकर दो सौ पुस्तको की ही यह सूची हो । हाँ, हम पुस्तको के चुनाव मे बहुत ही सावधानी रखे । हम उसमें ऐसी ही पुस्तको के नाम दें, जिन्हे हम उनके विषयो की प्रतिनिधि-पुस्तक कह सके । हमे बडी सावधानी से यह सूची तैयार करनी पडेगी; किन्तु, हम इसे कर सकेगे, इसमें तो हमे शक ही

नहीं है। और, यह काम जितना जल्द हो जाय, हिन्दी के लिए उतना ही अधिक कल्याणप्रद सिद्ध होगा।

मुझे बार-बार एक विज्ञापन की याद आती है, वह विज्ञापन था, एक दवा का। एक मरीज की खोपड़ी पर सलाख रखकर जिसे हथौड़े से ठोका जा रहा है और कहा जा रहा है यह बात आपके दिमाग में हथौड़े की चोट से घुसा देने की है…! हां, कभी-कभी सच्चाई को भी इसी तरह हथौड़े और सलाख की सहायता से ही आदमी के दिमाग के अन्दर पहुंचाया जा सकता है। हम अन्य भाषा-भाषियों पर इसका प्रयोग न करें, किन्तु मुझे लगता है, अपना गौरव हम आप बोध कर सकें, इसके लिए हमें ऐसा करना ही पड़ेगा। फिर हमें अपने साहित्य, आधुनिक साहित्य, पर भी हीनता बोध करने की आवश्यकता नहीं रहेगी!

९

हमारा राष्ट्रीय रंगमंच

यह सौभाग्य की बात है कि हिन्दी-संसार का ध्यान रंगमंच की ओर प्रबल रूप से आकृष्ट हुआ है। प्रबल रूप से कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा कभी नहीं रहा है कि हिन्दी में रंगमंच का सर्वथा अभाव हो। आज भी प्रायः हर बड़े शहर में नाट्यमण्डलियाँ हैं और उनके द्वारा यदा-कदा नाटकों के अभिनय होते ही रहते हैं। स्कूल-कालेजों में हिन्दी के प्रवेश के बाद पठित और शिक्षित वर्ग द्वारा भी नाटक खेले जाते हैं और वे उत्तमोत्तम नाटक खेलने की भी चेष्टा करते हैं। किन्तु, इसमें शक नहीं कि हिन्दी रंगमंच भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद अपना वह रूप और स्तर कायम नहीं रख सका, जो राष्ट्र-भाषा के रंगमंच के गौरव के अनुकूल हो। रंगमंच के विकास के लिए यही आवश्यक नहीं है कि उच्च-कोटि के लेखकों द्वारा नाटक लिखे जायें; बल्कि आवश्यक यह है कि वे नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे जायें और उच्चकोटि के अभिनेता उन्हें सफल रूप में रंगमंच पर उतार सकें। हिन्दी का दुर्भाग्य यह रहा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद ऐसे नाटक-लेखक नहीं पैदा हुए जो उच्चकोटि के लेखक होने के साथ रंगमंच से निकटतम सम्बन्ध रखते हों—जो रंगमंच की टेकनिक से परिचित हों, जो अपनी रचना को उस टेकनिक के अनुसार ढाल सकें, और सबसे बढ़कर स्वयं अभिनय कर सकें या अपने भावों के अनुसार अभिनेता को तैयार करा सकें। शेक्सपीयर के नाटक इसलिए सफल रहे और आज भी सफलता से खेले जाते हैं, क्योंकि शेक्सपीयर स्वयं भी रंगमंच से गहरा सम्बन्ध रखता था, स्वयं अभिनेता था। बर्नार्ड शा स्वयं कभी रंगमंच पर नहीं उतरा किन्तु यह सर्वविदित है कि अपने नाटकों का रिहर्सल वह स्वयं कराता

था और तब तक दम नहीं लेता था जब तक उसके भावों के अनुसार अभिनेता और अभिनेत्री सफल अभिनय के लिए तैयार नहीं हो जाते। भारतेन्दु के नाटक इसीलिए सफल रहे, क्योंकि वह स्वयं अभिनेता थे। उनके बाद पं० माधव शुक्ल, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी और पं० बद्रीनाथ भट्ट के नाटक भी इसीलिए सर्वप्रिय हुए कि इन तीनों का रंगमंच में गाढ़ा सम्बन्ध था। शुक्ल जी और चतुर्वेदी जी तो स्वयं सफल अभिनेता भी थे। किन्तु, जिस प्रकार श्री जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी को उत्तमोत्तम नाटक देकर उसे गौरवान्वित किया, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि उन्होंने हिन्दी नाटक को रंगमंच से बिल्कुल दूर कर दिया। प्रसाद जी इतने बड़े आदमी थे कि उनका प्रभाव हिन्दी-संसार पर गहरा पड़ना ही था और तब से अब तक हिन्दी रंगमंच उस अभिशाप की छाया से दूर नहीं हो सका है। किन्तु, राष्ट्र-भाषा का रंगमंच इस दयनीय स्थिति में रह नहीं सकता था। कुछ समर्थ तरुण लेखकों और कलाकारों ने इस अभिशाप को दूर करने की अनवरत चेष्टा की है और आज हिन्दी-संसार उस संधि-स्थल पर खड़ा है जब वह राष्ट्रीय रंगमंच का सपना देख सके और उसके लिए कदम बढ़ा सके।

रंगमंच के प्रमुख उपादान चार हैं—नाट्यकला के विशेषज्ञों द्वारा लिखे अच्छे नाटक, सामयिक उपकरणों से युक्त स्थायी रंगमंच, कुशल अभिनेता और अभिनेत्री तथा सुरुचि सम्पन्न दर्शक। दुर्भाग्य की बात है कि आधुनिक हिन्दी में इन चारों का अभाव-सा रहा है। प्रसाद जी ने हिन्दी-नाटक को रंगमंच से जो दूर किया, वह परम्परा चली आती है। इसके अपवादस्वरूप कुछ ही व्यक्ति हैं, जो रंगमंच से सम्बन्ध रखने के कारण इस परम्परा से अपने नाटकों को पृथक् रख सके हैं। बहुत से ऐसे लेखक भी हैं, जिनके नाटक खेले जाने योग्य हैं, किन्तु मुख्यतः वे पढ़ने के लिए लिखे गये हैं, न कि खेलने के लिए। हिन्दी में स्थायी रंगमंच तो है ही नहीं। पटना, काशी, प्रयाग, लखनऊ, दिल्ली, इन्दौर, ग्वालियर, जयपुर, जबलपुर, नागपुर—इतने बड़े-बड़े नगर हिन्दी के अंचल में हैं, किन्तु उन नगरों में क्या एक भी ऐसा रंगमंच है, जहाँ आधुनिक नाटकों को सफलतापूर्वक अभिनीत किया जा सके? जब कभी

उत्साही लोगो के हृदयो मे नाटक खेलने की उमग उठती है, किसी सभा-भवन को या सिनेमा-हॉल को कुछ परिवर्तनो के साथ रगमच में परिणत कर लिया जाता है, या कुछ बल्ले, बॉस और पर्दे से अस्थायी रगमच बना लिया जाता है, जो रगमंच का खिलवाड़-मात्र होता है। स्थायी रगमच के अभाव को भी मात करता है, अभिनेता और अभिनेत्रियो का अभाव। यह हिन्दी का सौभाग्य है कि उसे अभी एक पृथ्वीराज मिल गये है किन्तु अकेला चना क्या भाड फोड सकता है? और, अभिनेत्रियो की तो पूछिये ही नही! पढी-लिखी, शरीफ घर की लडकियाँ अन्य क्षेत्रो मे पुरुषो से होड लेने मे जरा भी नही झिझकती, किन्तु, रगमच पर उतरने की कल्पना से ही जैसे उन्हे थरथरी मार जाती है! इसका प्रमुख कारण है सुरुचिसम्पन्न दर्शको का अभाव! हमारे दर्शको की रुचि इतनी भ्रष्ट है कि कोई भद्र महिला उनके समक्ष रंगमच पर उतरने का साहस कर नही सकती। जहाँ हर सिनेमा मे, चाहे उसकी कथावस्तु कुछ भी क्यो न हो, कक्कू के कमर-डुलान के बिना दर्शक को तृप्ति नही होती, वहाँ भला भद्रकुलीन लडकियाँ अपनी भद्द क्यो करावे? हाल ही, इन पक्तियो के लेखक को शिशिर कुमार भादुडी का "माइकेल मधुसूदन" देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रसगवश वह कही-कही इतने धीमे बोलते कि अगली पक्ति वालो को भी सुनने मे कठिनाई होती। यदि अपने यहाँ ऐसी बात होती, तो "लाउडर प्लीज" का शोर मच जाता। किन्तु वहाँ लोग शिशिर बाबू के होठो का स्पदन देखकर ही मुग्ध हो रहे थे। यह निश्चित बात है कि जब तक हमारे दर्शको की रुचि परिमार्जित नही होती, तब तक अच्छे नाटको का खेलना मुश्किल ही है।

साधनो के अभाव है, किन्तु उत्साह की कमी नही है। जब हिन्दी राष्ट्रभाषा हो चुकी, तो उसके लिए एक राष्ट्रीय रगमच होना ही चाहिए यह सब अनुभव करते है! प्रश्न सिर्फ यह है कि इसका प्रारम्भ कैसे किया जाय, कहाँ से किया जाय? जालंधर से नागपुर और देवघर से दिल्ली तक का जो यह विस्तृत क्षेत्र है, उसमे प्रतिभा की कमी नही, धन की भी कमी नही। सिनेमा के सस्ते और चटपटे मनोरजन मे लोगो

का मन ऊबने लगा है। लोग सिनेमा-घरों में इसलिए जाते हैं कि मनोरंजन का कोई दूसरा साधन सुलभ नहीं। इधर पृथ्वीराज ने अपने थियेटर के साथ इस हिन्दी-क्षेत्र का दौरा किया है। सब जगह उनके नाटकों के देखने के लिए भी भीड लगी रही। हिन्दी की बात छोड़िये—एरिक इलियट द्वारा प्रस्तुत शेक्सपीअर के नाटकों के खेलने के लिए भी भीड़ बनी रही! हर नगर मे, हर कालेज में, जो एमेचर नाटक मंडलियाँ हैं, उनके खेलो के देखने के लिए भी लोगो की भीड उमड आती है। हिन्दी के कुछ तरुण-लेखक नाटको के नये-नये टेकनिक का प्रयोग कर रहे हैं और जब उनके नाटक रगमच पर उतारे गये, तो दर्शक मंत्रमुग्ध हो रहे। हर नगर मे कुछ ऐसे नवयुवक हैं, जिनमें अभिनय की प्रतिभा प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है और यदि उन्हे सुविधायें और प्रोत्साहन मिले, तो वे कुछ ही दिनो मे कमाल दिखला सकते है। आवश्यकता यह है कि इन प्रतिभाओं और साधनों को संघबद्ध किया जाय और कही एक स्थान पर भी एक ऐसा रगमच बना लिया जाय, जहाँ हिन्दी-ससार के नाटककार और अभिनेता साल-भर में एक-दो सप्ताह के लिए एकत्र हों, वहाँ अच्छे-अच्छे नाटको का अभिनय किया जाय और रगमच के विकास के लिए जमकर विचार-विमर्श किया जा सके। कभी साहित्य-सम्मेलनो और नागरी-प्रचारिणी सभाओ ने बहुत काम किये थे। किन्तु एक तो ये पुरानी संस्थायें दलबन्दी के अखाडे बन गई हैं। दूसरे, जिन उद्देश्यो को लेकर इनकी स्थापना हुई थी, वे उद्देश्य या तो पूर्ण हो चुके या उनके कामों को अब सरकारो या सरकार-सचालित संस्थाओ ने ले लिया है। अब आवश्यकता यह है कि हिन्दी के भिन्न-भिन्न अगो के विकास के लिए उनके विशेषज्ञो की छोटी-छोटी सस्थायें बनाई जाये और इसमे शक नहीं कि ऐसी संस्थाओ का श्रीगणेश हिन्दी के रगमच की वृद्धि और विकास के लिए गठित एक केन्द्रीय संस्था से ही किया जाना चाहिए। क्योंकि ऐसी संस्था के सगठन के लिए सारे उपादान यत्र-तत्र प्रस्तुत हो चुके हैं और उन्हे यदि एकत्र नहीं किया गया, तो हिन्दी की महान् क्षति होगी! किसी भाषा के गौरव का माप उसमें प्रकाशित काव्य या उपन्यास से ही नहीं किया

जाता, जीवित भाषा की पहचान इससे भी की जाती है कि उसका रंगमंच कितना विकसित है। अँगरेजी, फ्रेंच, रूसी, चीनी आदि विदेशी भाषाओं की बात जाने दीजिये, अपने ही देश की बंगला और मराठी भाषाओं के सामने हमारा रंगमंच कितना तुच्छ है, काश, हमने इस पर जरा गौर किया होता!

हिन्दी का यह परम सौभाग्य रहा है कि जो उसके आधुनिक रूप के जन्मदाता है, वह उसके रंगमंच के भी पिता रहे है। हमारा अभिप्राय है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से। नई हिन्दी को जन्म देते समय उनका ध्यान सबसे पहले रंगमंच की ओर गया, यह सिर्फ सयोग की बात नही थी।

किसी भी भाषा की मूलभित्ति जनता की जिह्वा है। यदि वह भाषा जनता की जबान पर नही चढ़ी, तो फिर उसमें पोथे लिखते जाइये, न उसमें ताकत आयगी और न वह फल और फूल सकेगी। आजकल एक खास संस्कृतमयी भाषा का विकास कालेज के प्रोफेसरों द्वारा किया जा रहा है। इस भाषा मे पोथे भी कम नही लिखे गये है। किन्तु उनकी वह भाषा पोथों की ही भाषा रह गई है—उस भाषा मे वे न तो अपने घर के लोगों से बाते कर सकते है न बाजार या गाँव के लोगों से। बस, वह भाषा गुरु-शिष्य-संवाद की भाषा रह गई है। भारतेन्दु की व्यापिणी दृष्टि भाषा के उस मूलतत्त्व को देख सकी थी और वह यह जानते थे कि भाषा को जनता की जिह्वा तक पहुँचा देने की शक्ति सबसे अधिक रंगमंच मे है। अतः उन्होंने नाटक लिखने पर सबसे अधिक ध्यान दिया; यही नही, स्वयं उन नाटकों मे अभिनय कर रंगमंच की महिमा में चार चाँद लगाये। अच्छे, सम्पन्न घर मे जन्म लेकर भी वह अपने नाटकों में अधम पार्ट करने मे नहीं झिझकते, यही नही, काशी से बाहर जाकर भी नाटक दिखलाने में जरा भी संकोच नही करते थे। यह हमारे लिए अत्यन्त अशोभनीय बात रही है कि अब तक हम भारतेन्दु का कोई स्मारक नही बना सके! क्यो नही हम काशी मे "भारतेन्दु स्मारक रंगमंच" बना कर अपने को पितृऋण से मुक्त करे और उसका ही विकास अपने राष्ट्रीय रंगमंच के रूप मे कर दिखाये। काशी सदा से कलाकौशल की भूमि रही है। भारत के भिन्न-भिन्न भागों से आकर वहाँ भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी

इस प्रकार बस गये है कि काशी को हम राष्ट्रपुरी भी कह सकते है। यो एक काशी में ही हमे भारतीय प्रतिभा के उत्तमोत्तम नमूने मिल जायँगे। उनके सयोग मे हम वहाँ एक ऐमा रंगमंच बना सकेंगे, जिम पर हम गर्व कर मकेंगे। किन्तु इसके लिए सबमे वडी आवश्यकता इस बात की है कि काशी के गण्यमान्य नागरिक और कला-प्रेमी इस ओर ध्यान दे। काशी आज भी गण्यमान्य आचार्यों, कलाप्रेमियो, माहित्य-स्रष्टाओ और साहित्य-प्रेमी नेताओ की नगरी है। ये मब के सब मिलकर कुछ निर्णय करे और हिन्दी संसार से इम राष्ट्रीय रंगमच के निर्माण के लिए अपील करे, तो धन और प्रतिभा दोनों मे से किसी की कमी नही रह जायगी, एसा हमारा विश्वास है। इस प्रसंग में हमे बार-बार स्वर्गीय शिवप्रसाद गुप्त जी की याद आती है। यदि वह होते और उनके मन में यह बात घर कर जाती, तो वह अकेले ही इस रगमंच का निर्माण करके रहते। किन्तु क्या शिवप्रसाद गुप्तजी की परम्परा काशी मे सदा के लिए लुप्त हो चुकी है? हम ऐसा नही मानते। बस, कार्य का श्रीगणेश किया जाय, मब तरह की सहायताये सब दिशाओ मे अवश्य ही प्राप्त होगी।

किन्तु, रुपयों के जोर से कितना ही भव्य रगमंच क्यो न बना लिया जाय, रगमच का आयोजन तब तक सफल नहीं हो सकता, यदि प्रारम्भ मे उसे किमी समर्थ अभिनेता का पूर्ण सहयोग नही प्राप्त हो। शेक्सपीयर के गाँव में, उस घोर देहात मे लदन के प्रमुख पत्रों के बार-बार विरोध किये जाने पर भी, शेक्सपीयर स्मारक थियेटर की स्थापना इसलिए हो सकी कि फ्रेक वेन्सन ऐमे अभिनेता प्रतिवर्ष वहाँ अपना अभिनय दिखाने को पहुँचने लगा। तरह-तरह की असुविधाये और प्राय: ही भर्त्सनाये महकर भी तीस वर्षो तक वह उस घोर देहात में अपनी मडली लेकर जा जमता रहा। फिर तो इङ्गलैण्ड के रगमच-प्रेमी जनता को उस छोटे-से गाँव मे पहुँचने को बाध्य होना पड़ा, यही नही, देश-विदेश के अभिनेताओ और अभिनेत्रियो को भी उस गाँव को तीर्थस्थान-सा स्वीकार करना पडा। जहाँ पहले साल मे सिर्फ एक सप्ताह तक वहाँ खेल चल सका, वहाँ अब छ महीनो तक वह गाँव गुलजार रहता है। हम चाहते है, स्ट्रैटफोर्ड औन एवेन के लिए जो फ्रेक वेन्सन ने किया, वह काशी के लिए पृथ्वीराज

जी करें। अभी सिर्फ एक सप्ताह के लिए ही वहाँ अभिनय किये जायँ। फिर तो लोगों की उत्सुकता आप ही बढने लगेगी। काशी मे उन्हे असुविधाये कम नही मिलेगी, किन्तु स्ट्रैटफोर्ड की तुलना मे वे असुविधायें नगण्य होंगी। हाँ, आर्थिक प्रश्न जरूर सामने आयगा। हम नही चाहते, पृथ्वीराज जी को आर्थिक झझटों मे डाला जाय। एक तो हमारा विश्वास है कि यदि अच्छा भवन हो और टिकट बेचने का अच्छा प्रबन्ध हो, तो आर्थिक घाटा बहुत ही कम होगा। किन्तु जो भी घाटा हो, उसे भारतेन्दु स्मारक समिति को उठाना चाहिए। साथ ही, हम यह चाहते है कि वहाँ सिर्फ पृथ्वीराज जी के नाटको का ही अभिनय नही हो, बल्कि हिन्दी ससार की अमेचर नाटक-मडलियों को भी वहाँ अपने अभिनय दिखाने का अवसर दिया जाय, जिसमे छिपी हुई प्रतिभाओं को उभडने का मौका मिले। पृथ्वीराज जी के सम्पर्क मे वे प्रतिभाये खिल उठेंगी और यो पृथ्वीराज जी हिन्दी-ससार को कितने ही आदर्श अभिनेता और अभिनेत्री देने का गौरव भी प्राप्त कर सकेंगे। कलाकार को सिर्फ फूल नही होना है, जो दो दिनो के लिए खिलकर, संसार को सौन्दर्य और सुगन्ध देकर, फिर झड पडे। कलाकार को वट-वृक्ष होना है, जिसकी शीतल छाया मे झुरझी-झुलसी आत्मा को अधिकाधिक काल तक शीतलता प्राप्त होती रहे और जो सूखने के पहले असख्य बीज बिखर कर कितने ही वट-वृक्षो का जन्म दे जाय। पृथ्वीराज जी में कलाकार के सभी गुण है; अत: हमें पूरी आशा है, यदि हिन्दी-ससार उन्हे यह काम सौंपे और इसके लिए उपयुक्त वायुमडल तैयार कर सके, तो वह हिन्दी को एक राष्ट्रीय रगमंच देकर ही रहेंगे।

हिन्दी का राष्ट्रीय रगमच भारतेन्दु के नाम से सम्बद्ध हो और उसकी स्थापना काशी में ही की जाय, यह हमारा निश्चित मत है। किन्तु, जब तक काशी के लोग इस ओर कदम नही बढाये, तब तक क्या हिन्दी-संसार निरपेक्ष दर्शक की तरह देखता रहे? नहीं। राष्ट्रीय रंगमच की स्थापना के लिए एक व्यापक वायुमण्डल जब तक तैयार नहीं हो जाता, तब तक इस दिशा मे प्रगति नही हो सकती। इस वायुमण्डल के लिए सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि हिन्दी अंचल के प्रत्येक प्रमुख

नगर में जितनी नाट्यमण्डलियाँ है, वे सघबद्ध हों और हर नगर में कम-से-कम एक छोटा-बडा स्थायी रंगमंच बनाने की चेष्टा की जाय और उसके द्वारा स्थानीय अभिनय-प्रतिभा को संगठित और विकसित करने का अनवरत प्रयत्न हो। यदि हिन्दी-अचल मे दो दर्जन ऐसे रंगमच बन गये, तो वे हिन्दी के राष्ट्रीय रगमंच के लिए आधारशिला सिद्ध होंगे। इसके साथ ही हिन्दी के राष्ट्रीय रगमंच के लिए व्यापक आन्दोलन हिन्दी क्षेत्र के कोने-कोने में किया जाय और प्रादेशिक सरकारो एवं केन्द्रीय सरकार से अनुरोध किया जाय कि वे अपने प्रदेशों के रगमचो तथा इस राष्ट्रीय रगमंच के लिए यथोचित सहायता दे। हमने "नई धारा" के इस रंगमच-अक का आयोजन इसीलिए किया था कि इस प्रश्न की ओर हिन्दी-ससार का ध्यान जाय। हमारा यह प्रयत्न अधूरा रह गया इसका हमें अफसोस है किन्तु यदि इस तुच्छ प्रयत्न के चलते हिन्दी-ससार में रंगमंच के लिए और खासकर एक राष्ट्रीय रगमंच के निर्माण के लिए थोडी सुगबुगाहट पैदा हो, तो हम अपना प्रयत्न सार्थक समझेंगे।

१०
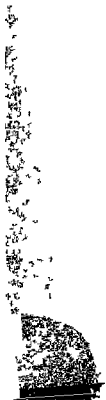
नाटक का नया रूप

बर्नार्ड शॉ आधुनिक युग के एक सफल नाटककार रहे हैं। पाश्चात्य रंगमंच को उन्होंने बहुत कुछ दिया है। और, रंगमंच ने भी उन्हें कम नहीं दिया। अपने जमाने के वह सबसे धनी साहित्यकार थे।

उनके नाटक जिस सफलता से खेले गये, दर्शकों को उन्होंने जिस प्रकार अनुरंजित किया, उसी प्रकार उनके नाटकों के छपे रूप भी लोगों के गलहार रहे और इस मद से भी बर्नार्ड शॉ को कम आय नहीं हुई। बर्नार्ड शॉ को जगत्प्रसिद्ध बनाया, तो मुख्यतः उनके छपे नाटकों ने ही। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनका ध्यान छपे नाटकों के रूप-रंग की ओर भी जाता। शॉ को कलाकार कहलाने का ही शौक नहीं था, वह अपनी कला के प्रचार-पक्ष पर भी उसी तरह की पैनी दृष्टि रखते थे।

उनके नाटक के लिखित रूप में कुछ विशेषतायें हैं। उन विशेषताओं ने उनके नाटकों के प्रचार में और भी मदद पहुँचाई थी। उदाहरणतः हर नाटक के प्रारम्भ में वह एक अच्छी भूमिका दे देते थे, जो उस नाटक से सम्बन्धित हर विषय पर सम्यक प्रकाश डालता था। अपने "सीजर और क्लिओपेट्रा" की भूमिका में उन्होंने उस नुस्खे की भी चर्चा की जो सिर के गंजेपन को दूर करे। सीजर का सिर गंजा था, कहा जाता है, क्लिओपेट्रा चाहती थी यह गंजापन दूर हो जाय और इसके लिए उसने एक नुस्खा भी सीजर को बताया था।

कहीं-कहीं तो भूमिका ही नाटक से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। बहुत लोग तो नाटक के बदले बर्नार्ड शॉ की भूमिका के पढ़ने में ही अधिक रस लेते हैं।

अपने नाटको के अक और दृश्य के पहले वह एक लम्बा वर्णन दे देते है और उसमे इब्सन की तरह सिर्फ मच की रूपरेखा का ही चित्रण नही होता। पात्र-पात्रियो के रूपरग का वर्णन, तत्कालीन इतिहास और परिस्थिति का वर्णन, यहाँ तक कि सन-सम्वत तक की चर्चा वह कर देते है। दृश्यो के बीच-बीच मे भी, यथास्थान, ऐसे वर्णन देने से वह नहीं सकुचाते।

ऐसा करने के लिए क्या औचित्य था, इसकी कैफीयत उन्होंने अपने पहले नाटक-सग्रह (प्लेज अनप्लेजेट्स) में ही दे दिया है।

उनका कहना है, यह सम्भव नही कि सभी नाटक रगमच पर ही खेले जायँ और उन्हे वही देखा जाय। पाश्चात्य देशो मे नाटक देखने का बडा शौक है, किन्तु तोभी वहाँ भी कितने आदमी ऐसे सौभाग्य-शाली है जिनके पास नियमित रूप से नाटक देखने के लिए साधन और समय उपलब्ध हो ? तो नाटककार क्या उन्ही लोगो पर सन्तोष कर ले, जो किसी तरह, कभी-कभी, थियेटरों मे पहुँच जाते हैं। निस्सन्देह, नाटककार चाहेगा कि उसकी चीज अधिक से अधिक लोगो तक पहुँचे। किन्तु, क्या वह नाटक लिखते समय भी इन बातो पर कभी ध्यान रखता है ?

शॉ के ही शब्दो मे सुनिये—

"यह स्पष्ट है कि नाटक को साहित्यिक माध्यम से पेश किया जाना अभी कला का रूप नही धारण कर सका है। इसलिए अँगरेजी जनता को नाटक खरीदकर पढने के लिए प्रेरित करना बड़ा ही कठिन है। वे वैसा क्यो करें जबकि नाटकों में सिर्फ शब्दो (वार्तालापो) की ही भरमार रहती है। हाँ, जरा-जरा-सा उल्लेख रहता है जो उन हिदायतों का जिनसे रगमच बनाने वाले बढई या पोशाक बनाने वाले दर्जी फायदा उठा सकते है।" 'आश्चर्य की बात तो यह है कि तीन अको का एक नाटक तैयार करने मे दो साल लगाने वाले इब्सन ने भी इन्ही हिदायतो से सन्तोष कर लिया जबकि उनके नाटको की विशिष्टता का तकाजा था कि वह पात्रो के चरित, वशावली तथा उन विशेष परिस्थितियों

पर प्रकाश डालते जिनके कारण वैसी अघट घटनाये घटी ।"

(प्लेज अनप्लेजेट्स)

जब आदमी नाटक-भवन मे होता है, रगमच के सामने होता है, तो स्वभावत ही उसकी मनोवृत्ति उस नाटक के साँचे में ढलने को तैयार रहती है और ज्यो-ज्यो अभिनय विकसित होता जाता है, वह अपने को बिल्कुल ही वैसी स्थिति में पाता है, मानो घटना उसके सामने घट रही है। लेकिन जब वह पुस्तक लेकर अपने घर मे नाटक पढने बैठता है, तो उसका मस्तिष्क नाटक की उस स्थिति तक पहुँचे, इसके लिए आवश्यक है कि प्रारम्भ मे कुछ ऐसा सजीव वर्णन उसके सामने उपस्थित किया जाय जो रंगमच के अभाव को दूर कर दे। यानी जो काम बढई, दरजी, पेटर सब मिलकर कर पाते हैं, उसे अकेले लेखक को ही सिर्फ शब्दो के माध्यम से करना पडेगा, तभी उसके नाटक का स्वाद पाठक ले सकेगे और तभी उसके नाटक को लोगो में खरीदकर पढने की उत्सुकता होगी फिर बर्नार्ड शॉ के शब्दों में ही—

"अत आवश्यकता सिर्फ यह नही है कि नाटक के वार्तालाप को आप पुस्तकाकार छापकर प्रकाशित कर दे, किन्तु उचित यह है कि आप ऐसी चेष्टा करे कि नाटक का पूरा भाव उसके पाठको के सामने हूबहू प्रत्यक्ष हो सके। निस्सन्देह इसका अर्थ होगा बिल्कुल एक 'नई कला' का विकास।" (वही)

इसका अर्थ यह हुआ कि बर्नार्ड शॉ के अनुसार आज तक जो नाटक लिखने की कला है, वह सिर्फ रगमच के लिए नाटक लिखने की कला है। लेकिन अब उचित यह है कि रगमच के दर्शको के लिए ही अपनी कला को परिमित नही रखा जाय बल्कि हम अपनी कला को इस प्रकार उन्नत करें कि वह पाठको के लिए उतना ही मनोरजनप्रद हो। इस प्रकार की विकसित नाटक-लेखन-कला कालक्रम मे एक स्वतत्र कला का भी रूप धारण कर ले सकती है। शॉ का कहना है, कि पुराने नाटककारो ने, जबकि रगमच का इतना विकास नही हुआ था, जो नाटक लिखे, उनमें इस तरह के वर्णन वार्तालाप के अन्दर ही आते

हैं कि उनके पढने मे भी रस मिलता है। "किन्तु, कितने ही आधुनिक नाटक, यद्यपि वे खेले जाने पर बहुत ही सफल सिद्ध हुए हैं, पढने के लायक बिल्कुल ही नही हैं, यहाँ तक कि मच मे अलग उन्हे समझा भी नही जा सकता है।" (वही)

बर्नार्ड शॉ ने अपने नाटको को ऐसा बनाया, जो पढने में भी रुचिकर हो, किन्तु, एक ऋषि की तरह उन्होंने कल्पना की थी कि कुछ दिनों के बाद उनका यह प्रयत्न भी बौना समझा जायगा और दृश्यो या अको के ऊपर एक पूरा अध्याय ही नही, कई अध्याय लिखने की आवश्यकता आ पड़ेगी। उस समय नाटको का जो नया साहित्यिक रूप बनेगा, वह कुछ अशो मे व्याख्या, कुछ अशों मे वर्णन, कुछ अंशो मे व्याख्यान, कुछ अशों मे वार्तालाप और कुछ अशो में ही नाटक होगा। वे नाटक मुख्यत पढे ही जायँगे।

लेकिन, रंगमच की दृष्टि मे रखकर ही आज जो नाटक लिखे जायँ, उनमे भी ऐसे वर्णन तो रहने ही चाहिएँ कि उन्हे उस रूप मे भी पढकर पाठक नाटक के आनन्द की पूरी अनुभूति प्राप्त कर सके। शॉ सिर्फ नाटक-लेखक ही नही थे, अपने नाटको की तैयारी मे वह स्वय भाग लेते थे, रिहर्सल करते थे, रगमच की छोटी-छोटी बातो पर भी ख्याल रखते थे। उनका अपना अनुभव है कि नाटक को इस रूप मे लिखने से नाटक के निर्माता को भी सारी बाते ज्ञात रहती है कि वह किस युग की, किस परिस्थिति की अवतारणा कर रहा है, यही नही, नाटक के पात्र और पात्रियों की भी अपने पार्ट के बारे में पूरी जानकारी होती है, फलत: वे अँधेरे मे नही टटोलकर तुरंत ही अपने पार्ट को हृदयगम कर लेते हैं। इस तरह उस नाटक के खेलने मे भी पूरी सफलता की आशा रहती है, जैसा कि शॉ के नाटको के सम्बन्ध मे हुई।

हिन्दी मे रगमच तो है ही नही, यहाँ तो नाटको के पाठकों का ही भरोसा है। अभी एक प्रकाशक से बाते हुईं—उन्होंने बताया, जब तक कि किसी परीक्षा की पाठ्यसूची में नहीं लग जाता, नाटक की बिक्री बहुत ही कम होती है। इसका कारण क्या वही नहीं है, जिसकी ओर

बर्नार्ड शॉ ने इशारा किया है। हमारे नाटक-लेखक आँख मूँदकर अनुसरण करते जा रहे हैं। लेखको से भी बढकर तो आलोचकों की हालत है जो बँधी-बँधाई परिभाषा के अनुसार ही सभी साहित्यिक कृतियो की नापजोख करते है। जहाँ उनकी या उनके पूर्वजों की बनाई लकीरो मे आप हटे कि वे बिगड पडे। जब कोई नई चीज लेकर आता है, वे घबरा उठते है। अपनी "अम्बपाली" के बारे मे मेरा ऐसा अनुभव हुआ है। सयोग मे वह पाठ्यसूची मे लगी—जितने विद्यार्थी थे, सब पसद करते थे, जितने अध्यापक थे, सब इसी मे प्रारम्भ करते थे कि स्वीकृत परिभाषा के अनुसार यह नाटक ही नही। प० माखनलाल चतुर्वेदी ने ऐसे ही आलोचको को जूते की माप मे पैर की माप लेने वाले अजीबोगरीब मोची बताया है।

समरसेट माडम जीवित नाटककारो मे प्रमुख हैं। उन्होने अपनी नाटकावली के तीसरे भाग मे नाटक के भविष्य के बारे में विचार किया है। उनका कहना है कि आज नाटक जहाँ पहुच चुका है, उसका भविष्य अधकारमय है। विशुद्ध गद्य मे सिर्फ वार्तालाप द्वारा चरित का विकास देखते-देखते लोग ऊब उठे हैं। किन्तु, इसका यह अर्थ नही कि नाटक का अन्त हो जायगा। हाँ, जहाँ वह पहुँच चुका है, उसे मुडना पडेगा। "पहले के नाटक दृश्यो और नृत्यो द्वारा आँखो को और कविता एव सगीत के द्वारा कानो को तृप्त करते थे। मै नही समझता कि क्यो नही हमारा नवीन नाटककार इन कलाओं मे सहायता ले।" माडम ने इस पर विस्तार मे विचार किया है। वह तो यहाँ तक जाता है कि नाटक में प्रहसन पक्ष की जो उपेक्षा की गई है, उसका भी समावेश उचित सशोधन के साथ किया जाना चाहिए। विचार-प्रधान नाटकों के युग बीत गये वह जहाँ तक पहुँच चुका है, अब नया मोड नही लिया गया, तो हर पुराने पेड की तरह उसे सूखकर झड जाना पडेगा।

किन्तु, दुर्भाग्यवश, हमारे यहाँ तो नाटक विकसित होने के पहले ही मुरझा रहा है। कोई भी साहित्यिक कृति सिर्फ पाठ्य-पुस्तक बनकर नही जी सकती और न इस युग मे सिर्फ स्वान्त-सुखाय रचना हो सकती है। जनहित ही नही, जनरुचि को भी ध्यान मे रखना ही होगा।

जनता नाटक पढ़ना चाहती है, नाटक खेलना भी चाहती है। किन्तु, हम नाटक का जो रूप उसके सामने रखते हैं, उसे वह समझ भी नहीं पाती। अपनी इच्छा प्रगट करने के उसके भी तरीके है। उसका एक तरीका यह भी है कि हम तुम्हारी चीज नही खरीदेंगे। यह सबसे प्रभावशाली तरीका है। यहाँ आप जोर-जबर्दस्ती चला नही सकते। आपको यथारुचि लिखने का अधिकार है, तो उसको भी अपनी इच्छा के अनुसार खरीदने का हक है। नाटक के वर्तमान रूप पर वह मत दे चुकी है। सात समुद्र पार, जहाँ नाटक और रंगमंच दोनों विकसित है, वहाँ के एक महान् नाटककार ने उसके मत का आदर किया, फलत वह आधुनिक युग का सफलतम नाटककार के रूप मे स्वीकार किया गया। आप भी अपनी जनता की रुचि को ध्यान मे रखकर अपनी नाटक-लेखन कला में परिवर्तन लाइये, नाटक को एक नया साहित्यिक रूप दीजिये, इसी मे आपका और नाटक का दोनो का कल्याण है। नहीं तो भूखों मरिये। हाँ, आपको यह अधिकार तो है ही।

११

हम कहाँ जा रहे हैं ?

उस दिन एक उर्दू लेखक मित्र मेरे घर आये। कुछ देर इधर-उधर की बात करने के बाद बोले--दोस्त, तुम्हारे हिन्दी लेखकों को हो क्या गया है ? जहाँ बैठते है, एक दूसरे को गालियाँ ही बकते है। मेरे मित्र को एक कडवा अनुभव तुरत-तुरत हुआ था। वह एक होटल मे शाम को चाय पीने गये थे। देखा, वहाँ एक टेबुल पर कुछ नौजवान साहित्य-कार बैठे हुए है। बेचारे उसी ओर लपके। चाय-वाय के साथ गप्पें होने लगी। उन्होने लगे हाथों हिन्दी साहित्य की प्रगति जाननी चाही। फिर क्या था, यारो ने एक-एक बुजुर्ग लेखक की पगडी उछालना शुरू किया। वह खूसट हो चले, वह तो मर चुके, वह सदा के चोट्टे रहे है, उनकी बक-बक अब कौन सुनता है, आदि आदि ! मेरे मित्र को बडी परेशानी हुई। अरे, यह क्या ? वह दौडे-दौडे मेरे पास आये और धीरे-धीरे सारा माजरा सुनाकर इस बात पर सख्त अफसोस जाहिर किया और बताया, उर्दू मे ऐसी बदतमीजी नही होती। जिससे मतभेद भी होता है, पीठ-पीछे उसकी भी निन्दा नही की जाती, हाँ, आमने-सामने भले ही लड लिया जाय। उन्होने पुराने उस्तादो की कितनी कहानियाँ सुनाईं और नये लोगो के एखलाक का भी लम्बा बयान दिया। जिन लोगो से उनकी बाते हो चुकी थीं, वे भी कोई ऐरे-गैरे नही थे। साहित्य मे उनका स्थान बन चुका है, बुजुर्गो के मुँह से मेरे मित्र-महोदय उन लोगो की तारीफे भी सुन चुके थे। फिर उनकी ऐसी गैर जिम्मेवाराना बाते मेरे मित्र को क्यो नही खटके ? उन्होने बड़े दर्द से कहा—प्यारे मेरे, इन चीजो को रोको, ये तुम्हारे अदब को जहन्नुम में ले जायँगी !

कुछ दिन हुए, हिन्दी के एक नये लेखक एक प्रसिद्ध साहित्यिक

स्थान में गये थे। बडे हौसले लेकर गये थे वे—इनके दर्शन करेंगे, उनकी चरण-धूलि सिर पर लेंगे। वहाँ गये और एक परिचित साहित्यिक के साथ ठहर गये। वहाँ से जब वे एक आचार्य से मिलने चले, तब उस सज्जन ने पूछा, कहाँ जा रहे हो। उन्होने बता दिया, तब तुरत सलाह दी गई, खबरदार यह मत कहना कि तुम मेरे साथ ठहरे हो। आगन्तुक सज्जन भोचक। उनका पेशोपेश देख उस सज्जन ने समझाया, देखो, यहाँ इस शहर मे आचार्यत्व की तीन पीठिकाये है। हर पीठ की अलग-अलग शिष्यमण्डली है। हर मण्डली चेष्टा करती है, कि वह ससार पर यह सिद्ध कर दे कि उसकी आचार्य-पीठ सबसे बडी, सबसे महान् है। यहाँ तक तो ठीक भी होता, किन्तु लिखने के समय तो सिर्फ यहाँ तक किया जाता है किन्तु जहाँ तक बातचीत का प्रश्न है—एक पीठ की शिष्यमण्डली दूसरी पीठ के आचार्य को नीचातिनीच सिद्ध करने की कोशिश करने मे कुछ नही उठा रखती। सिर्फ यही नही, एक पीठ की शिष्यमण्डली दूसरी पीठ की शिष्यमण्डली को देखते ही पागल कुत्ते-सी टूटती है—फिर जो दृश्य होता है, उसकी कल्पना करो। उस सज्जन ने आगे बताया कि चूँकि मै कुछ ही दिन पहले यहाँ आया और आते ही यह भाँप गया, अत तीनो मे अलग रहने की कोशिश की है। नतीजा यह है कि तीनो पीठ के कुत्ते मेरे पीछे लगे है। आगन्तुक सज्जन का सारा साहित्य-प्रेम, आचार्य प्रेम हवा हो गया। किन्तु, उन्होने सोचा, जरा आजमाकर देखूँ और तीन दिनों तक वहाँ का जो भयानक दृश्य देखा, फिर चौथे दिन वहाँ ठहर नही सके। बड़े कटु अनुभव लेकर आये और तब से उन्होने यह नियम बना लिया है, सरस्वती के इन सपूतो से जितनी ही अधिक दूरी पर रहा जाय, उतना ही अपना और साहित्य का कल्याण है।

अभी-अभी मै इस समस्या पर एक सुप्रसिद्ध कवि से बाते कर रहा था। उन्होने भी अपने कडवे अनुभवो का एक लम्बा किस्सा बताया और फिर एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक ने भी पुस्तक निकालकर उससे कुछ अवतरण सुनाये। उस दार्शनिक ने इन निन्दापरायण व्यक्तियो की उपमा बर्रे से दी थी। ये लाल-पीले चोले वाले जीव हर जगह मँडराते फिरते है। जहाँ मिठाइयाँ देखी, वे अनामन्त्रित ही उपस्थित हो जाते

है और जहाँ एकान्त देखा, वही अपना खोता बना लेते है ! ये भन्न-भन्न करते पहले तो जैसे यशगान करते दीखते है, किन्तु वहाँ मिठाई का शीरा पाने मे बाधा दी गई कि डंक मारे बिना नही छोडते ! और, जहा इनका खोता बना, वहाँ से तो बिना लुकाठी दिखाये, ये हटने ही नही। उस दार्शनिक ने कहा है, कभी मत सोचो कि तुम इन्हे शीरा पिला-पिलाकर सतुष्ट कर सकोगे। नही, यह इनका स्वभाव नही है। ये डक मारेगे ही । इनमे बचने का एक ही उपाय है, जहाँ इन्हे देखो, वहाँ से टल जाओ और इन तुच्छ जीवों को भन्न-भन्न करते छोड दो और होशियारी रखो, कही तुम्हारे किसी कमरे मे ये खोते नही बना पाये । कवि महोदय ने कहा, भाई, जब से उस दार्शनिक का हमने यह सुझाव पढा है, मैं वैसा ही बरतता हूँ और तुम से भी कहता हूँ, यही करो, नही तो व्यर्थ की परेशानी मे पड जाओगे और जो थोडा-बहुत सेवा कर पाते हो, वह भी नही हो सकेगी। उन्होने हँसते हुए यह भी कहा—भाई, अब हम जिस उम्र मे पहुच गये है, हम में ऐसी ताकत भी तो नही रह गई कि लुकाठी भाँजते फिरे, अत ऐसे जीवो मे दूर-दूर रह कर ही कुछ करते जाना सर्वश्रेयस्कर है।

हाँ श्रेयस्कर तो यही है। अपनी जिन्दगी मे इसे उतारकर कुछ शान्ति का अनुभव भी किया है। किन्तु मनुष्य क्या सिर्फ अपने बारे मे ही सोचकर सन्तोष कर ले सकता है ? यह तो एक सामाजिक प्राणी है, इसके कुछ सामाजिक उत्तरदायित्व भी है। उन उत्तरदायित्वो के प्रति उपेक्षा करके क्या वह जी सकता है ? यदि सभी आदमी अपने को इसी तरह बचाने की कोशिश करने लगे तो फिर बर्रो का ही राज्य ससार में छा जाय। और एक बात और भी। हमारे जिन भाइयों में बर्रे का यह दुर्गुण आ गया है, वे बर्रे नही, मनुष्य है। किसी खास परिस्थिति के कारण ही उनमे यह दुर्गुण आया, हम ऐसा क्यो नही समझे ? और जरा यह भी क्यों नही सोचे कि उनमे दुर्गुण के प्रवेश कराने मे हमारा भी कुछ हाथ है या नही ? उस होटल के टेबुल पर जो लोग बैठे थे, उनके या उनके ऐसे दूसरे लोगो के साथ हमारा क्या व्यवहार रहा है—क्या यह हमारे लिए सोचने की बात नही है ? और इनमें

से जो लोग आचार्यपीठ कायम करके या कराके संसार में अपने आचार्यत्व का डोंडा बजवाना चाहते हैं, क्या उनका उत्तरदायित्व साहित्य के सरोवर को गँदला बनाने में कुछ कम है ? मैंने दुख के साथ देखा है, इनमें से जो बुजुर्ग हैं, उनका दोष इस सम्बन्ध में कुछ कम नहीं है। उनकी आचार्यपीठों ने नये लोगों का पथभ्रष्ट किया है। इन नये लोगों ने भी अपनी पीठों की स्थापना की है, जिनका काम इन सभी आचार्य-पीठों को एक ही सुर में, नई पुश्त को दबाने के नाम पर, गालियाँ देना है। नये लोगों की ये नई आचार्यपीठें नई-नई संस्थाओं के नाम पर खुली हैं। आजकल जो साहित्यिक संस्थाओं की बाढ़ आई है, उसकी तह में यह बात भी है—हमें इस पर गौर करना चाहिए।

आज हिन्दी का साहित्याकाश गर्द-गुबार से भर गया है। हिन्दी का आलोचना-साहित्य तो और भी भ्रष्ट है। आलोचना, इतिहास या संग्रह के नाम पर ऐसी-ऐसी पुस्तकें निकल रही हैं, जिनका उद्देश्य होता है, किसी खास आचार्यपीठ को प्रमुखता देना। इन आचार्यपीठों का संगठन भी अद्भुत है। सियार की तरह एक कोने में आवाज उठी और फिर दूसरे कोने तक हुआ-हुआ का शोर मच गया। जो लोग साहित्य की एकान्त साधना करना चाहते हैं या कर रहे हैं, उनकी कहीं पूछ नहीं है। भाषा और शैली में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। नाटक, कहानी, शब्दचित्र, उपन्यास में नये प्रयोगों की झलक प्रायः ही दिखाई पड़ती है। कविता में तो प्रयोगों की धूम है। किन्तु इनमें से उन्हीं प्रयोगों की पूछ है जिसके लेखक किसी आचार्यपीठ से सम्बद्ध हैं। जो स्वतन्त्र रूप से कुछ कर रहे हैं, उनकी ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। हारकर इनमें से कुछ स्वतन्त्र-चेता भी उन आचार्यपीठों में से किसी में सम्मिलित होने को बाध्य हो जाते हैं। किन्तु मौत तो उनकी है, जो अपना सिर नहीं झुकाना चाहते। उनका नामलेवा कोई नहीं। यदि अनिवार्यतः उनका नाम लेना हो पड़ा तो इस तरह से लिया जाता है मानो लेने-वाले के गले पर सात मन की चक्की रखी गई हो। यों, ये पीठें हिन्दी साहित्य के विकास को रोके हुई हैं, अरे, गला घोंट रही हैं। इन्हीं की प्रतिक्रिया है निन्दकों का एक भारी दल ! इस मूल बीमारी का इलाज

करे, उसके प्रकट लक्षणों का ही नहीं । अब मुझे तो यही सबसे पहला आवश्यक कार्य लगता है कि सबसे पहले इन आचार्यपीठों को तोड़ दिया जाय।

किन्तु प्रश्न यह है कि इस काम को करे कौन ? क्या आचार्यपीठों के महंतो से यह आशा की जाय ? आशा तो की ही जानी चाहिए। मैं उनसे कहूँगा—श्रीमन्, बहुत हो चुका, अब अपनी माया समेटिये। आपका व्यक्तित्व इससे बढ़ता हो, किन्तु इससे आपके साहित्य की अपार हानि हो रही है। और, क्या सचमुच आपका व्यक्तित्व इससे बढ़ा है ? नहीं, नहीं—यह मूढ़ धारणा है। बालू का भीत गिरकर रहेगा, गिर रहा है, आप नहीं देख पाते, तो इसका क्या किया जाय ? किन्तु, यदि उन्होंने ध्यान नहीं दिया, तो मैं अपने नये सहकर्मियों से कहूँगा, मित्रो, व्यक्तिगत निन्दा छोड़ो और सब कोई मिलकर इन आचार्यपीठों को नींव सहित ध्वस्त कर दो। यह तुम्हारे पौरुष का तकाजा है। ऐसा करके तुम माँ-हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा करोगे। इस ध्वंस-कार्य में ही भावी निर्माण छिपा है। अतः इस कार्य-द्वारा साहित्य-सृजन के अवरुद्ध मार्ग को उन्मुक्त कर तुम शतशः स्वतन्त्र प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने का पुण्य प्राप्त करोगे। यह पुण्य कार्य है, उसी में भिड़ जाओ ! निन्दा से तो अपनी ही हानि होती है !

१२

राष्ट्र-भाषा बनाम राज्य-भाषा

देश के सभी शुभैषियों ने चेष्टा की थी, हिन्दी राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हो। सभी लोक-नायको की यह चेष्टा रही। साहित्यिक और धार्मिक नेताओं की भी ऐसी ही चेष्टा रही। गाधीजी ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के काम की शुरूआत करके इस काम मे अभूतपूर्व प्रगति ला दी। जब भारत स्वतन्त्र हुआ, स्वभावत. ही यह मान लिया गया, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद स्वतः ही प्राप्त हो जायगा। किन्तु जब विधान-परिषद् में यह प्रश्न आया, एक विचित्र स्थिति देखी गई। सारा दक्षिण इसके विरोध मे खड़ा हुआ और बंगाल, महाराष्ट्र आदि की ओर से भी विरोध की आवाजे सुनाई पडने लगी। बहुत-बहुत मुश्किल से अँगरेजी अको के संशोधन को स्वीकार करके और पन्द्रह बर्ष की अवधि की पाबन्दी लगा करके हिन्दी को भारतीय गणराज्य की राज्य-भाषा के रूप मे स्वीकार किया गया। शासन तो राज्य-भाषा के रूप मे ही स्वीकार कर सकता था, किन्तु यह बात उस समय भी खटकी थी कि इसे राष्ट्र-भाषा का पद क्यों नही दिया गया। क्या राष्ट्र-भाषा और राज्य-भाषा मे कोई अन्तर नही ? उस समय ऐसा ही लगता था कि इस प्रश्न में कोई तथ्य नही है। राष्ट्र-भाषा नही हुई, राज्य-भाषा तो हुई, चलो बात खत्म हुई। लेकिन, ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, यह स्पष्ट हो रहा है, कानूनदाँ लोगो ने एक तिकड़म की चाल चली थी। हिन्दी को वह नही प्राप्त हुआ, जिसकी वह हकदार थी।

भारतीय विधान मे हिन्दी को राज्य-भाषा के रूप स्वीकार करनेवाले अक्षरो की रोशनाई भी नही सूखी थी कि एक पुकार उठी—हिन्दी का साम्राज्यवाद दक्षिण पर लादा जा रहा है! ० इसके

खिलाफ सारे भारत ने लड़ाई छेड़ी थी वह साम्राज्यवाद की चर्चा शुरू हुई। बात क्या है? साम्राज्यवाद से लड़ने मे हिन्दी के क्षेत्रो ने कुछ कम नही किया था, यह तो स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि गांधीजी द्वारा आयोजित इस साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध मे हिन्दी क्षेत्रो की ही अग्रगण्यता रही। जो लोग कल तक साम्राज्यवाद से घनघोर युद्ध करते रहे, एक ही रात मे उनकी मति ऐसी बिगड़ी कि वे ही अब अपना साम्राज्यवाद, भाषा के रूप मे, दूसरो पर लादने चले! इन बेचारो पर तो काठ मार गया, उस पुकार ने एक जबर्दस्त नारे का रूप धारण किया, जिस नारे पर, मद्रास मे, सत्याग्रह तक प्रारम्भ कर दिया गया। नेता लोगो ने लोगो को समझाने की कोशिश की, कुछ दिनो मे वह आन्दोलन शान्त भी हो चला। किन्तु, मन का घाव मिटा नही, रह-रह कर वह नारा जोर पकड़ता है—और, कितने ही रूपों में।

यह तीर-कमान भी साधा जा रहा है कि पन्द्रह वर्षो के बाद कुछ ऐसा तिकड़म किया जाय कि हिन्दी को उस स्थान से अपदस्थ किया जा सके। कुछ लोग यह भी सोचने लगे है, हिन्दी के नाम से लोगो को जलन हो रही है, तो इसका नाम ही बदल दिया जाय, इसे हिन्दी नहीं कहकर, भारती नाम दे दिया जाय। किन्तु, इन सब से घृणित प्रयत्न यह हो रहा है कि चूंकि हिन्दी के बोलने वालो की संख्या सबसे बड़ी है अतः बहुमत की दृष्टि से हिन्दी की राज्य-भाषा की मान्यता आवश्यक हो जाती है, इसलिए कोशिश यह की जाय कि हिन्दी क्षेत्रों की एकता को ही छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। स्थानीय बोलियों को प्रोत्साहन देकर बिहार को चार भाषाओ के, उत्तरप्रदेश को सात भाषाओ के, मध्य-प्रदेश को तीन भाषाओं के क्षेत्रो मे यो ही सारे हिन्दी-राज्यो को छोटे-छोटे भाषा-क्षेत्रों में बटवा दिया जाय। सारे हिन्दी-क्षेत्र को मैथिली, मगही, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, अवधी, ब्रजभाषा, छत्तीसगढ़ आदि बोलिया के क्षेत्रो में बाँट दिये जाने पर हिन्दी के लिए स्थान ही कहाँ रह जायगा? फिर अन्य भाषाएँ अपने को राज्य-भाषा के पद के लिए उम्मीदवार खड़ा करेगी, या नहो तो, अंगरेजी को ही अनन्त काल तक भारत की राज्य-भाषा के पद पर हम बिठाये रख सकेंगे। ऐसे लोगों

को हिन्दी पर अँगरेजी को तरजीह देने में जरा भी हिचक नही है।

कोढ में खाज पैदा कर दी है, कुछ हिन्दी प्रान्तों की सरकारो ने। इसमें सबसे बडी अपराधी है मध्यप्रदेश की सरकार। उसने एक ऐसा कोष तैयार कराया है, जो हिन्दी के मूल मे ही कुठाराघात कर रहा है। हम से कहा गया था कि हिन्दी के सारे राजकीय परिभाषित शब्दो का रूप सस्कृत से लेने पर मराठी, गुजराती, दक्षिण के भिन्न-भिन्न भाषाओ, बँगला, उडिया, आसामी आदि के लोगो के लिए सुविधा होगी! बाबू सम्पूर्णानन्द ने तो सबसे अधिक जोर इसके लिए लगाया था। किन्तु, जब डाक्टर रघुवीर का कोष सस्कृत के आधार पर तैयार हुआ है, तो एक अजीब परिस्थिति पैदा हो गई है। उसका सबसे पहला विरोध हुआ, मध्यप्रदेश के मराठी-भाषियों द्वारा। मराठी भाषा मे फारसी-उर्दू के अनेको शब्द ऐसे घुल-मिल गये हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। वहाँ "विज्ञापन" नही है, "जाहिर खबर" है। "मान-हानि का अभियोग" वहाँ "अबनुक्सानीचा मामला" है। पूना में "तिलक-रस्ता" है, "तिलक पथ" नही। सावरकर साहब सस्कृत के बडे हामी है, किन्तु उनकी पुस्तक का नाम है—"हिन्दूपाद पादशाही"। महाराष्ट्र के नेता 'पेशवा' कहलाते थे। मध्य-प्रदेश के मराठी-भाषियो का विरोध महाराष्ट्र पहुँचा और यह रघुवीरी कोष अब हिन्दी-साम्राज्यवाद की प्रमाण-पुस्तिका के रूप मे पेश किया जा रहा है। बात यहाँ तक बढी कि डाक्टर रघुवीर को मध्य-प्रदेश के सेक्रेटेरियट से अपना बोरिया-बिस्तर सम्हालना पडा! किन्तु, बाबाजी तो गये, अपनी लँगोटी छोड गये। जब दूसरे हिन्दी प्रान्तों की सरकारो ने अपने-अपने यहाँ के सरकारी कामकाज को हिन्दी मे करने का निश्चय किया और इसके लिए हिन्दी-अनुवाद-विभाग की स्थापना की, तो यह रघुवीरी कोष ही उनका बाइबिल बन गया। कोई अँगरेजी शब्द आया, झट उस कोष को खोल लिया गया और 'मक्षिका स्थाने मक्षिका" रख दिया गया। क्यो न हो, इन अनुवाद-विभागो में प्राय ऐसे ही लोग तो भरती किये गये, जिन्हे हिन्दी भाषा का कोई शऊर नही। हिन्दी में एम० ए० कर लिया था, सस्कृत का अधकचरा ज्ञान था, सरकारी दफ्तरों मे पहुँचने का तिकड़म मालूम था

बस, वहाँ तक पहुँच गये और अब अपने अगाध भाषा-ज्ञान को करोड़ों लोगों के सिर पर थोप रहे हैं।

यों, देखिये, तो हिन्दी के लिए राज्य-भाषा होना उनका अभिशाप हो रहा है। जो लोग कल तक उसे राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर चुके थे, वे भी अब उसे साम्राज्यवादी भाषा कहकर उससे अपना पिंड छुड़ाने के लिए सब तरह के बुरे-भले प्रयत्न कर रहे हैं। यही नहीं, राज्य-भाषा के रूप में एक ऐसी हिन्दी गढ़ी जा रही है, कि साधारण जनता की क्या बात, हिन्दी के विद्वानों के लिए भी नये-नये स्कूल खोलने पड़ेंगे। हिन्दी में सरकारी कामकाज हो, इसलिए यह माँग की जाती थी कि हिन्दी में काम होने से सबके लिए उसका समझना, अपना काम भी आप ही कर लेना, आसान होगा। किन्तु बात उल्टी हो रही है। अब इस सरकारी हिन्दी को समझने के लिए फिर से हिन्दी का पढ़ना लाजिमी हो गया है। सरकारी गजट की भाषा देखिये, गजट लेकर वे लोग दूसरों से मानी पूछते फिरते हैं, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। जो मिनिस्टर सरकारी अनुवाद-विभाग द्वारा तैयार किया गया भाषण पढ़ता या प्रश्नों का उत्तर देता है, वह बेचारा भी नहीं समझ पाता है कि वह क्या बोल रहा है? इसके समर्थन में बड़ा अनोखा तर्क दिया जाता है—शैली और कीट्स की भाषा में राजनीति तो नहीं बोली जा सकती? अरे भई, शैली और कीट्स की भाषा नहीं हो, तो चर्चिल और एटली की भाषा भी तो हो। मान लिया, तुम्हें तुलसी या मैथिलीशरण की भाषा से दुश्मनी हो, तो फिर नेहरू या राजेन्द्रप्रसाद की भाषा ही हमें दो! यह कौनसी भाषा तुम गढ़ रहे हो?

हिन्दी राष्ट्र-भाषा इसलिए स्वीकार कर ली गई थी, क्योंकि वह भारत के सबसे बड़े प्रभावशाली क्षेत्र की जन-भाषा थी और उससे भी बढ़कर वह साधुभाषा थी। राज्य-भाषा होते ही उससे यह दोनों स्थान छीने जा रहे हैं। एक ऐसी भाषा गढ़ी जा रही है कि जिसे हिन्दी-भाषी जनता भी नहीं समझ सके। आज हिन्दी-भाषी जनता, कुछ षड्यंत्रियों के कुचक्रों में पड़ कर जो क्षेत्रीय भाषाओं के नारे लगा रही है, उसमें हिन्दी का यह वर्तमान रूप में सहायक बन रहा है! जो नये पारिभाषिक

शब्द बनाने हों, उसका आधार संस्कृत हो, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा। किन्तु आज तो साधारण जनों मे बहुप्रचलित शब्दों को भी विदेशी कहकर हटाया जा रहा है। नतीजा यह है कि हिन्दी भाषा दिन-दिन जनता से दूर की जा रही है! और जो भाषा जनता से दूर हुई, क्या वह राज्य-भाषा बनकर भी जी सकती है?

जो लोग हिन्दी का राज्य-भाषा बन जाने पर आनन्द मना रहे है, उन्हे समझना होगा कि राज्य-भाषा बनना किसी भाषा के लिए वरदान ही नही, अभिशाप भी बन सकता है? एक दिन संस्कृत भी राज्य-भाषा थी? किन्तु उसकी क्या दुर्गति हुई? मुसलमान शासकों ने फारसी-उर्दू को और अँगरेजी शासकों ने अँगरेजी को राज्य-भाषा बनाई थी न? आज उसकी भी क्या दशा है?

साधु अपने सन्देश के प्रचार के लिए सदा जनभाषा को अपनाते रहे है। संस्कृत को छोडकर बुद्ध ने पाली को अपनाया। नानक, कबीर, तुलसी, मीरा सबने जनभाषा को अपनाया। दयानन्द, रामतीर्थ की भी यही प्रेरणा थी। हिन्दी को यह सौभाग्य रहा कि जिन्हे अखिल भारतीय धरातल पर कुछ कहना हुआ, उन्होने हिन्दी को अपनाया। गाधी ने हिन्दी को इसी उद्देश्य से अपनाया था। इसलिए गाधीजी सदा जोर देते रहे कि हिन्दी को सरल बनाओ, सुगम बनाओ, सुबोध बनाओ। संक्षेप में उसके जनभाषा साधुभाषा के रूप को ही विकसित करो। किन्तु, आज हम उसे कुछ पंडितों की भाषा, कुछ शासकों की भाषा बनाने पर तुले हैं। क्या इस रूप मे हिन्दी जीवित रह सकेगी? वाल्मीकि और व्यास की भाषा जब जनता से दूर होकर जी नही सकी, तो फिर हमारी-आपकी भाषा क्या खाक जिन्दा रह सकेगी।

१३

कला और साहित्य : तीन मनीषियों की दृष्टि में

१—रोम्याँ रोलाँ

—वही कला महान् है, जो सीधे-सादे लोगो को भी अनुप्राणित करती है।

—कोई महान् कलाकार क्यों एक मुट्ठी सुशिक्षित-दीक्षित लोगो के लिए दुख झेले, सपने देखे और निर्माण करे ?

—बीठोवर्न के संगीत की एक कड़ी आधे दर्जन सामाजिक सुधारो से भी अधिक कीमती है।

—सच्चे कलाकार के लिए कला का जीवन उसके अहंकार की तृप्ति या ऐहिक आनन्द की प्राप्ति के लिए ही नही होता और न उसका पथ गुलाब की पखुड़ियो से बिछा रहता है।

—मेरे जीवन ने मुझे सिखाया है कि कलाकार का सबसे पहला और सबसे बड़ा कर्त्तव्य है अपनी अन्तरात्मा की पुकार के प्रति ईमानदार होना। उसे सदा जाग्रत रहना है। उसे अपनी अन्तर्भावना की वेदी पर सदा दीपक जलाते रहना है और जब अन्त-प्रेरणा उसे विवश करे, तब उसे अवश्य ही निर्माण के कार्य मे लग जाना है। यदि इससे समय बचा सके, तभी वह उस फालतू समय को समाज की भलाई के अन्य-कामो मे लगावे।

—सच्ची कला अर्धशिक्षितो को छोड़ कर और सभी को अनुप्राणित करती है। इसका मतलब यह है कि वह अशिक्षित और शिक्षित दोनों को समान भाव से आनन्द देती है। सिर्फ अर्धशिक्षितों को छोड़ देना है, यानी उन लोगों को, जो यह समझते है कि कला का निर्माण सिर्फ उन्ही के लिए किया जाता है। आधुनिक शिक्षा की मशीन में कुचलकर

उनका हृदय वह ताजगी खो चुका होता है, जो कला को ग्रहण करने की क्षमता देती है। यों वे बेचारे कला से प्रेरणा पाने की क्षमता से अनजाने ही वंचित हो जाते हैं।

—साधारण मनुष्य की भावना-शक्ति उम्र के साथ ही क्षीण होने लगती है। किन्तु महान् कलाकार अपनी स्वाभाविक ताजगी को कभी नहीं खोता, बुढ़ापे मे भी उसकी भावना प्रवणशील और प्रजननशील बनी रहती है।

—सच्चा सौन्दर्य हमे सदा विशुद्ध करता और पवित्र बनाता है।

—हमारा काम है देते जाना, बोते जाना—और बातें हमपर निर्भर नही करती।

—हमारी कृतियों को लोग पसन्द करेंगे या नहीं, इस चिन्ता मे दुबले होने की बात नहीं है। जो तुम्हे देना है, देते जाओ, दोनों हाथों से उलीचते जाओ। तुम्हारी रचना में कुछ मूल्यवान है, तो वह अपना काम करके रहेगी, वह व्यर्थ जा नहीं सकती।

—ज्योंही कलाकार कोई रचना कर लेता है, उससे उसकी रुचि हट जाती है और वह तुरंत नई रचना में तल्लीन हो जाता है।

—प्रतिभा के विकास के लिए आवश्यक है कि वह कष्ट, एकान्त, चिन्ता और साधारण भ्रान्तियों की अग्नि-परीक्षा मे पहले सफल हो ले।

—यदि कलाकार को अपनी रचनात्मक प्रतिभा पर विश्वास न हो, वह उसके आनन्द मे अनुभूत न हो, तो फिर वह सांस न ले सके, जीते-जी मुर्दा हो जाय। उसे अपनी साँस के लिए स्वयं वायु-मण्डल तैयार करना है। इसके लिए उत्कृष्टतम शौर्य चाहिए, सिह का हृदय।

—थोड़े-से गिने-चुने लोग अपने जमाने से सदियो आगे होते है, वे जनता को पहचानते हैं, उससे प्रेम भी करते हैं। किन्तु जनता उन्हे सही रूप में नही पहचान सकती। कभी तो वह उनके सही रूप की हँसी उड़ायेगी और उन्हे फाँसी पर चढ़ायेगी या उनको नहीं समझकर उन्हे देवता बना देगी और उनका जय-जयकार करेगी।

२—महात्मा गांधी

—मै साधुता को सब कलाओ मे उत्तम कला समझता हूँ। कला क्या है सादगी मे सौन्दर्य। और साधुता क्या है ? बनावटीपन और असत्य धारणाओ से ऊपर उठकर अपने जीवन मे सरल सौन्दर्य की उच्चतम अवतारणा करना। सच्चा साधु कला की आराधना ही नहीं करता, बल्कि उसे जीवन में उतारता है।

—आजकल जिसे कला कहा जाता है, उसमें मै कोई तत्त्व नही पाता। मै उसे कला मान नही सकता, जिसके समझने के लिए उसकी बारीकी का जटिल ज्ञान चाहिए। मेरी समझ मे कला को महान् होने के लिए, प्रकृति के सौन्दर्य की तरह, उसमे सबके हृदय मे भावना जाग्रत करने की शक्ति होनी चाहिए।

—कला मे आनन्द प्राप्त करने के लिए उसके बाल की खाल उधेडने वाले भेद-प्रभेदो का ज्ञान आवश्यक नही। प्रकृति की वाणी की तरह उसके रूप और गुण मे सरलता ही सरलता चाहिए।

—जो लोग अपनी दीवालो पर चित्र लटकाकर प्रेरणा प्राप्त करते है, मुझे उनसे झगडा नही है, किन्तु मै उसकी आवश्यकता नही अनुभव करता। मेरे लिए तारा-खचित आकाश की सौन्दर्य-राशि ही काफी है जिसे देखते हुए मै कभी नही थकता। मेरे सौन्दर्य की पिपासा शान्त करने के लिए जगल और समर, नदी और पहाड, खेत और घाटी ही बहुत हैं। मै पूछता हूँ जगमग आकाश, विशाल सागर और उदार पर्वत से भी अधिक प्रेरणा कोई चित्र दे सकता है ? क्या किसी चित्रकार की तूलिका ऊषा के सिन्दूर और सन्ध्या की स्वर्णिमा से भी अधिक रगीनी चित्रित कर सकती है ? नहीं, नही—मेरे लिए प्रकृति ही सबसे अधिक प्रेरणा देने वाली है। उसने मुझे कभी धोखा नही दिया है—उसने मुझे चकित किया है, रहस्य-जाल से आवृत्त किया है, आनन्द से ओत-प्रोत बनाया है। उसके निकट मानव हाथ की कृति बच्चो का खिलवाड है।

—सभी कलाओ को एक जगह रखो, तब भी जीवन उससे महान् है। शीशे के घर में पलने वाले तुम्हारी कला के ये पौधे क्या है, यदि

इनमें जीवन की आत्मा नहीं हो, इनकी पृष्ठ-भूमि में स्थिर उच्च जीवन नहीं हो ? तुम लम्बी-चौडी बातें कर लो, किन्तु वह कला किस काम की जो जीवन को उन्नत करने के बदले उसे बौना बनाये, उसका विकास रोक दे ? क्या तुम्हारे बहुत से कलाकारों का यह ढाँचा बेढगा नहीं लगता है कि कला सृष्टि का मुकुट है, जीवन का अन्तिम अर्थ है ।

—कला जीवन से भी महान् है—क्या कहना है ? जैसे कि आदमी नारों पर ही जीया करता है ? जैसे कि आत्मा को एक ही आनन्द की खुराक पर जिन्दा रखा जा सकता है ? जब कला के नाम पर इस तरह की भ्रान्तियाँ फैलाई जाती हैं, तब मैं कहने को मजबूर हो जाता हूँ—ठहरो ! मैं सबसे बडा कलाकार उनको मानता हूँ जो पवित्रतम जीवन व्यतीत करता है । मै कला की निन्दा नहीं करता, बल्कि ऐसी बढी-चढी बातों का खण्डन करता हूँ !

३—बरट्रण्ड रसल

—मेरा विश्वास है कि कला की सर्वोत्तम-कृतियों के लिए काम-वासना की अतृप्ति अति आवश्यक है । मैं इसका कायल हूँ कि महान् कलाकारों को चाहिएँ कि वे अपनी काम-शक्ति को ऊर्ध्वगामी करे, तभी वे सुन्दर कलाकृति का सृजन कर सकेंगे । लेकिन इसमे भी "अति" से सदा बचना चाहिए—क्योंकि काम बदला लेने से भी नहीं चूकता !

—कामवासना पर अति अकुश रखना जीवन के हर पहलू पर बुरा असर डालता है और उसका असर कला पर भी अच्छा नहीं होता ।

—कलाकार मुझे उसे मोर की तरह लगता है जो मयूरी को रिझाने के लिए अपने खूबसूरत पखों को पसारकर नाचता है । यदि मयूरी उससे कुछ मान-मनौवल नहीं कराये, तो फिर ससार को मोर का नृत्य पाने का सौभाग्य नहीं हो ।

—सच्चा आनन्द उसी को मिलता है जो उसके लिए पागल नहीं है बल्कि जिसे चीजों से उन्हीं के लिए प्रेम है । इसका अर्थ यह है कि यदि हम चीजों को इसलिए प्रेम करे कि उनसे हमें आनन्द प्राप्त होगा, तो सच जानिये आनन्द हमारे लिए मृग-जल ही बना रहेगा ।

प्रश्न---आपका अधिकांश समय लिखने में ही बीतता है ?

उत्तर---स्वभावतः ही। सच बात यह है कि लिखने के लिए एकान्त की खोज में मैं देहात में भाग जाता हूं।

प्रश्न---लगता है आप बहुत तेजी से लिखते हैं---क्या आपको उन्हें सुधारना भी पड़ता है।

उत्तर---नहीं। मैं एक सुर से लिखता जाता हूँ और उन्हें सीधे प्रैस में भेज देता हूँ।

प्रश्न---आपकी शैली मुझे बहुत पसन्द है---खासकर शब्दों की किफायतसारी और संयम। क्या इस कला का आपने अभ्यास किया था ?

उत्तर---हाँ। बचपन में मैं विभिन्न विचारों को कम-से-कम शब्दों में लिखने का खिलवाड़ किया करता था। बचपन के इस दिलबहलाव से मुझे बहुत लाभ हुआ।

---विदेशी संस्कृति किसी देश पर संगीनों के जोर से ही लादी जा सकती है।

---बर्नार्ड शॉ : ओह वह बेजोड़ है। दुनिया में ऐसे कम लोग हैं जिन्हें प्रसिद्धि या प्रभाव ने बर्बाद नहीं किया हो। शॉ उनमें एक है। उसे अपनी कीर्ति तक की परवाह नहीं है---ऐसा सच्चा, ऐसा निर्भीक, खिल्ली उड़ाने में ऐसा बहशी। उसके संसर्ग में ताजगी है।

१४

साहित्यिकों की स्मृति-रक्षा !

जब पिछली बार पेरिस मे था, एक दिन भोर के जलपान के बाद बाहर निकला, तो हर चौराहे के सरकारी नोटिस-बोर्ड पर एक शानदार नोटिस चिपका हुआ पाया—उसमें उल्लेख था, विक्टर ह्यूगो की डेढ-सौवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य मे एक पक्ष मनाया जा रहा है, उससे फ्रास के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री भाग लेंगे, जहाँ ह्यूगो की कब्र है, उस पैन्थियन पर दीप-मालिका सजाई जायगी और पन्द्रह दिनो तक लगातार ह्यूगो और उसकी कृतियो पर भिन्न-भिन्न रूप मे प्रकाश डाले जायँगे—सगीत सभाएँ होंगी, नाटक होंगे, प्रदर्शनियाँ होंगी, आदि-आदि ।

हाँ, यह नोटिस सरकारी नोटिस-बोर्ड पर चिपकाई हुई थी। वहाँ, पेरिस में, हर चौराहे के कोने पर एक नोटिस बोर्ड होता है, जिस पर सिर्फ सरकारी नोटिस ही चिपकाई जा सकती है। इसका मतलब यह था कि ह्यूगो की वर्षगाँठ का यह आयोजन सरकार की ओर से, उसकी सरक्षता में, हो रहा था ।

उसी दिन भागा-भागा मैं पैन्थिन पहुँचा—वह विशाल इमारत, जो पेरिस के त्राता सत जीनोइव की स्मृति में तैयार की गई थी, इतनी ऊँची, इतनी लम्बी-चौडी कि जब पृथ्वी की गति-सम्बन्धी जाँच-पडताल की बात हुई तो उसी में एक डोर लटकाकर यह सिद्ध किया गया कि पृथ्वी चलती है ।

जब फ्रास की क्रान्ति हुई, तो इस धर्म-मन्दिर को फ्रास के महान् पुरुषों के समाधि-मन्दिर के रूप मे परिणत कर दिया गया। सारी पेरिस में आप कला और क्रान्ति को गलबहियाँ देकर चलते हुए-से पायँगे। इस मन्दिर की भी यही हालत है। सुन्दरतम मूर्तियाँ, मनोरम तस्वीरें। एक

ओर संतों की तस्वीरें देखिए, दूसरी ओर क्रान्ति के भिन्न-भिन्न रूपों की तस्वीरें। किन्तु मैं तो सबसे पहले विक्टर ह्यूगो की समाधि देखना चाहता था। समाधियाँ मन्दिर के निचले हिस्से मे, तहखाने में हैं। टन-टन-टन-टन घण्टा बजा और हम उसके बजानेवाले का पीछा करते तह-खाने में पहुँचे।

सबसे पहले, दाहिनी ओर, रूसो की समाधि है और बाईं ओर वाल्टेयर की। हाथ में पुस्तक लिये, खड़े, वाल्टेयर की वह सुप्रसिद्ध मूर्ति वही है, जिसकी प्रतिकृति हम प्राय: पुस्तकों में पाते हैं। फिर गलि-यारे शुरू होते हैं, जिनके दोनों ओर समाधियों का तांता है। पहले गलियारे मे थोडा आगे बढ़ने पर ही बाईं ओर विक्टर ह्यूगो का समाधि है। एक-एक कोठरी में प्राय दो-दो समाधियाँ है, ह्यूगो की समाधि की बगल मे एमिल जोला की समाधि है। रूसो, वॉल्टेयर और ह्यूगो, जोला-जोडियाँ भी कैसी ! मैं एकटक ह्यूगो की समाधि को देख रहा था और कल्पना कर रहा था, इसी समाधि पर आज संध्या को फ्रांस के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री फूल चढ़ावेंगे और शाम को इस विशाल इमारत पर वह चिरागाँ होगा—जगमग, झलमल ! और, सारी पेरिस उमडकर जो यहाँ इकट्ठी होगी, उसकी रंगीनी की कल्पना तो और भी भाव-विभोर बना रही थी !

किन्तु, मेरे पास इतना समय कहाँ था कि कल्पना मे ही डूबा रहूँ। कितने ही लेखकों, कवियों, कलाकारों, दार्शनिकों, योद्धाओं की समा-धियों को देखता, सिर नवाता, वहाँ से रवाना हुआ।

और, जब दूसरे दिन ह्यूगो के स्मारक-भवन मे पहुँचा, तो विस्मय-विमुग्ध हो रहा। यह भवन ह्यूगो का ही है। उसके पोते ने इसे फ्रांस की सरकार को दे दिया। अब सरकार इसका संरक्षण कर रही है। ह्यूगो धनी आदमी था, उसके पिता नेपोलियन की फौज मे एक जेनरल थे। तलवार के धनी का बेटा कलम का धनी निकला। किन्तु, विद्रोही—कितने ही वर्षों तक उसे अपने देश से बाहर, बनवास में, रहना पड़ा। और, जब वह लौटा, कला-प्रेमी, क्रान्ति-प्रेमी फ्रांस की, पेरिस की जनता ने उसे सर-आँखों पर लिया। ह्यूगो को प्रारम्भ से ही अपनी महत्ता

का अनुमान था, ज्ञान था। अतः उसने अपनी चीजों को सम्हालकर, खोज कर रखा था और जो चीजे इधर-उधर बिखरी पडी थीं, उन्हे इकट्ठा किया उसके पोते ने। जब से सरकार ने इस विपुल संग्रहालय को लिया है, तब से बची-बचाई चीजे भी इकट्ठी कर दी गई है।

यह कमरा है, जिसमे ह्यू गो सोता था। पलंग बिछा है, तकिया लगी है। पलंग के ऊपर, दीवार में, वह तस्वीर है, जो उसकी मृत्यु के बाद खीची गई थी। लगता है, इस पलग से उठकर, वह उस तस्वीर मे जा सोया है। वह रात म सोते-सोते उठ बैठता था और लिखने लगता था। अत, इस घर में एक टेबुल, पलंग के पैताने की बाईं ओर है। वह खडे-खड़े लिखता था, टेबुल उसी के अनुसार बनवाया गया था। ह्यू गो ठिगना था, अत. टेबुल की ऊंचाई अधिक नहीं। टेबुल पर उसकी कलम-दावात अब तक रखी है। उसकी वह कलम---इच्छा होती थी उसे हाथ मे लेकर चूम लूं! किन्तु, चीजो के छूने की मुमानियत जो थी। तो भी जरा झुक कर उस टेबुल को तो चूम ही लिया। टेबुल पर लिखते समय, अपना एक पैर वह टेबुल के नीचे लगे काठ के बल्ले पर रखता था, उस पर आज तक घिस्से बने हुए है।

इसके बाद कमरे-पर-कमरे! इस कमरे में वह लिखता-पढता था, इस कमरे में उसकी पोशाके रखी रहती थी, इस कमरे मे उसकी पत्नी रहती थी, इस कमरे मे वह मित्रो से मिलता था, आदि आदि। इन कमरो मे स्मारक वस्तुओं का खजाना है। उसकी शादी प्रेम की शादी थी, वे सब खत वहाँ संग्रहीत है जो शादी के पहले या बाद मे लिखे गये थे। तरह-तरह की पोशाके है, एक सैनिक वर्दी भी है और एक तलवार भी, जिसे कमर मे लटकाकर वह शान से निकलता था। भिन्न-भिन्न उम्र में उसने अपने बालों के गुच्छे काटकर रख दिये थे, जरा उन गुच्छों को देखिये---सुनहले, भूरे, होते-होते, सन-से-सुफेद!

कमरो के बाद तीन बडे-बड़े हॉल। उसे चीनी मिट्टी के बरतन इकट्ठा करने का बड़ा शौक था। तरह-तरह की तस्तरियाँ, रकाबियाँ, प्याले, सुराहियाँ। एक पूरा हॉल उन्ही से भरा पड़ा है। एक हॉल की अलमारियो मे उसके सभी ग्रन्थो की हस्तलिपियाँ है। उन्हें देखने मे

लगता है, वह बहुत तेज लिखता था, अक्षर फाँके-फाँके हैं, जगह-जगह काट-कूट करने से भी वह नहीं चूकता था।

कहाँ तक वर्णन किया जाय, कितना वर्णन किया जाय।

स्वर्गीय भाई मेहरअली ने एक बार कहा था, जब पेरिस जाना तो उस श्मशान-भूमि में अवश्य जाना, वहाँ मौलियर की समाधि है। यह श्मशान-भूमि—पैरीलेचिस! पेरिस को इस बात का अभिमान है कि जितने बड़े लोग इस श्मशानभूमि में दफनाये गये है, संसार की किसी भी श्मशान-भूमि को वह सौभाग्य नहीं मिल पाया है। यहाँ पहुँचते ही दिमाग खबत हो उठता है—कितना देखा जाय, कैसे देखा जाय। तरह-तरह के आकार-प्रकार की समाधियाँ, कतार-कतार में, आदमी खोजता है, रास्ता पकड़ता है, किन्तु, दिशायें भूल जाती हैं। तो भी खोज-ढूंढ कर मौलियर की, बालजक की, आस्कर वाइल्ड की समाधियाँ देखीं—सारा बर्नहार्ल की समाधि की खोज में तो बहुत समय बर्बाद किया। मौलियर की समाधि तम्बूत-नुमा है, जमीन से ऊपर, चार स्तम्भों पर। बालजक की समाधि पर उसकी मूर्ति है, किन्तु विचित्र समाधि है आस्कर वाइल्ड की—उसके ऊपर एक नंग-धड़ंग व्यक्ति की खुरदरी आकृति लिटाई हुई है।

किन्तु, मौलियर की असल स्मारक तो है कोमोदिये फ्रांसिस। गुण-ग्राहक सम्राट् लुई चौदहवाँ मौलियर को अपने राजभवन में बुला लाया और उसी के एक अंश को नाटक-भवन में परिणत कर दिया। लुई के खान्दान का नामनिशान भी नहीं है, वह राजभवन भी ध्वस्त-पस्त हो चुका है किन्तु, राजभवन का वह भाग आज भी गुलजार है। जब मैं वहाँ पहुँचा, मैटिनी शो चल रहा था। झटपट टिकट कटाया, भीतर हाजिर हुआ। यह नाटक-भवन ही नहीं है, यह एक उत्तम संग्रहालय भी है। मौलियर की सारी रचनाओं की प्रतिलिपियाँ तो हैं ही, वह सोफा भी रखा हुआ है, जिस पर बैठकर वह अन्तिम बार अभिनय कर रहा था। मौलियर उन दिनों बीमार रहता था, किन्तु उसका अभिनय देखने के लिए लोगों में बड़ी बेचैनी थी। अत: उसने एक ऐसा नाटक लिखा, जिसका नायक बीमार हो। इसी बीमार नायक का पार्ट करते-करते

कलाकार भूल गया कि वह बीमार है। इतने जोश से वह अभिनय करने लगा कि वह मूच्छित हो गया। लोगो ने समझा, यह भी अभिनय ही है, किन्तु यह तो उसके जीवन-अभिनय का अन्तिम पटाक्षेप था !

यह तो बडे-बडे लोगो की बाते हुई, फ्रास का कोई भी ऐसा उल्लेखनीय साहित्यकार नही, जिसकी स्मृति में कुछ-न-कुछ नही किया गया हो। किसी के नाम पर सग्रहालय है, किसी के नाम पर साहित्यिक सस्था है, किसी के नाम पर सडक है। प्राय उनकी मूर्तियाँ भी बनी है, तस्वीरो की क्या चर्चा।

इगलैड साहूकारो का देश माना जाता है। नैपोलियन ही उसे घृणा की दृष्टि से नही देखता था, बर्नार्ड शॉ ने उस पर व्यंग्य के ऐसे तीर चलाये हैं कि कोई भी तिलमिला उठे। किन्तु, साहूकारो का यह देश भी जानता है कि अपने साहित्यिको की स्मृति-रक्षा, रुपये-पैसे की आमदनी की दृष्टि से भी, कितनी महत्त्वपूर्ण है। जब आज से सौ वर्ष पहले स्ट्रैफोर्ड ऑन एवन में शेक्सपीयर का स्मारक बनाने की बात चली, तो लदन के पत्रों ने सख्त विरोध किया था। किन्तु, अब उन्हे मालूम होता होगा, देश के मध्यभाग मे, घोर देहात के उस छोटे से गाँव में, जहाँ से रेलवे लाइन आज भी सोलह मील दूर है, शेक्सपीयर का स्मारक बनाकर कितनी बुद्धिमानी का काम किया गया। मैं वहाँ चार दिनो तक रहा, उसका एक-एक होटल विदेशियो मे खचाखच भरा था और उसके नाट्य-भवन मे, शेक्सपीयर के नाटको को देखने के लिए आने वाले दर्शको की भीड पाँच-छ महीने तक ऐसी बनी रहती है कि उसके लिए टिकट का जोगाड दो-दो तीन-तीन महीने पहले से कर लेना होता है।

इस गाँव को ऐसा बना दिया गया है कि लगता है, उसके जर्रे-जर्रे मे शेक्सपीयर रम रहा हो ! जहाँ उसने जन्म लिया, जहाँ पढा, जहाँ अपने से पाँच वर्ष बड़ी लडकी से प्रेम किया, जहाँ वह धन और यश पाकर शान से रहा और जहाँ उसे दफन किया गया, एक-एक स्थान को इस तरह सुरक्षित रखा गया है कि देखते आँखे नही अघाती।

इंगलैड के साहित्यिको की स्मृति-रक्षा मे छोटी-छोटी बातो पर ऐसा ध्यान रखा गया है कि देखकर आश्चर्य होता है। शेक्सपीयर ने अपने

नाथ से मलबेरी का जो पेड रोपा, उसके पोते को आजतक—चार सौ वर्षों के बाद भी—जिला कर रखा गया है और कीट्स ने जिस पेड पर बैठी बुलबुल की आवाज सुनकर "ओड टू नाइटेंगिल' लिखा, वह पेड गिर रहा है, तो भी भरसाये से उसे गिरने और नष्ट होने से बचाया जा रहा है।

यूरोप में कला और साहित्य का सन्देश तो इटली से गया। इटली भारत की ही तरह, अनेक प्राचीन गरिमा रखती हुई भी, एक गरीब मुल्क है। उसकी अच्छी-से-अच्छी कलाकृतियाँ यूरोप के सग्रहालयों और चित्रागारों को सुशोभित करती है; तो भी जो चीजे भी अपने घर मे रख पाई है, उसके सॅजो और सम्हाल मे वह कभी बेखबर नही रही। जब मैं फ्लोरेंस पहुँचा, उसके कला और साहित्य-सम्बन्धी वैभव को देख कर मुग्ध हो गया। एक ही साथ जो शहर माइकेल एंजेलो, लियानार्दो विची, राफेल, दाँते, बुक्कासियो, गैलेलियो, मैकियावेली की जन्मभूमि या लीला-भूमि रहा हो, उसकी महिमा का क्या कहना? मैंने दाँते का वह छोटा-सा घर देखा, जिसे छ सौ वर्षों के बाद भी सुरक्षित रखा गया है—जिसमे उन दिनो एक कला-प्रदर्शनी सजाई गई थी। फ्लोरेंस का पैन्थि-यन देखा, जिसकी अँगनाई मे एक ऊँचे स्तम्भ पर दाँते की शानदार मूर्ति है, राजकीय सग्रहालय मे वे कागजात देखे, जिनका सम्बन्ध दाने के जीवन से है। दाँते पर जो वारट निकाला, दाँते पर जो मुकद्दमा चला, दाँते को जो वनवास की सजा मिली, दाँते की मृत्यु के बाद उसकी हड्डी को फ्लोरेंस में लाने के लिए नागरिको ने जो दरखास्त दी—सब काग-जात वहाँ सुरक्षित है!

रोम तो स्मृति-चिह्नों का नगर ही है। जिधर निकल जाइये, सम्राटो, धर्मगुरुओ, कलाकारो की स्मृति मे बने प्रासादों, मन्दिरों और स्मारकों की भरमार पायेंगे। रोम रोमनो का सम्मान करे, यह तो स्वाभाविक है ही। किन्तु, कितने ही विदेशी साहित्यकारो और कला-कारो के स्मृति-चिह्न भी वहाँ सुरक्षित है। मुझे सबसे उत्सुकता थी कीट्स और शैली की समाधियाँ देखने के लिए। अँगरेजी के ये दो अमर कवि—अपने देश से दूर, यहाँ शान्ति और स्वास्थ्य की खोज में आये

और यहीं, चिर शान्ति पा गये। कीट्स की समाधि पर उसी ने अपने लिए जो पहले से एक पंक्ति चुन रखी थी, वह लिखी है—हेयर लाइज वन हूज नेम वाज रिटन औन वाटर! यहाँ वह सोया है जिसका नाम पानी पर लिखा गया था! किन्तु, उसके प्रशंसकों ने सिद्ध कर दिया है, कवि की यह निराशामयी पंक्ति उसके लिए लागू नहीं है।

किन्तु, इस पंक्ति को देखकर मुझे भारतीय साहित्यकारों के दुर्भाग्य का स्मरण अवश्य हो आया—खास कर हिन्दी के साहित्यकारों का। जो हममे सर्वसम्मति से श्रेष्ठ था, उस तुलसी के लिए ही हमने आज तक क्या किया, जो दूसरों के लिए हम सिर धुनें। तुलसी का जन्म कहाँ हुआ, उसको लेकर विवाद हो, किन्तु उनकी मृत्यु काशी के अस्सी घाट पर हुई, इसमे तो कोई सन्देह ही नहीं है। हम वहीं क्यों नहीं उनका एक स्मारक बनावें—ऐसा स्मारक जो भारत की राज्य-भाषा के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार के गौरव के उपयुक्त हो? यों ही विद्यापति के लिए, सूर के लिए, खुसरो और रहीम के लिए, मीरा के लिए, हरिश्चन्द्र और प्रेमचन्द्र के लिए आज तक हमने क्या किया? कीट्स, तुम छोटी उम्र में मरे, निराशा के वातावरण मे मरे, इसलिए तुम समझते रहे, तुम्हारा नाम पानी पर लिखा गया। किन्तु, तुम्हारे गुणग्राहक देश ने तुम्हें वह अमरता दी जिसकी तुम कामना करते रहे। यह तो हम हैं, तुमसे सात समुद्र पार के एक अभागे देश के सरस्वती के सेवक जिनका नाम सचमुच पानी पर लिखा गया या लिखा जा रहा है—आह! लिखना शुरू न किया मिटना शुरू हो गया!

१५

कविता का सम्मान

"भैया, हमने तो तय कर लिया है, जहाँ मिनिस्टरों को बुलाया जायगा, हम उन कवि सम्मेलनों मे नही जायेंगे !" हमारे एक भावुक छोटे कवि भाई ने कहा !

उसने बताया, किस तरह अपने डब्बे में बुलाकर रास्ते-भर इस कवि से मिनिस्टर साहब कविताएँ सुनते रहे दाद भी दिये, रास्ते में, एकाध-बार, चाय भी पिलवा दी। किन्तु ज्योंही उतरने वाला स्टेशन पहुँचा, सारा दृश्य ही बदल गया ।

कवि बेचारा दौडा अपने इन्टर क्लास के डब्बे की ओर—कही उस का सामान कोई उच्चका लेकर चलता नहीं बने । इधर मिनिस्टर साहब की गरदन मे तरह-तरह की मालाये पडती रहीं, उनके सिर पर फूलो की वर्षा होती रही । धूमधाम से उन्हे स्टेशन से बाहर किया गया और एक सुसज्जित गाडी मे बिठाकर उन्हे रेस्ट-हाउस में ले जाया गया । इतने लोगो ने उन्हे अपने घर टिकाने की माँग की थी कि रेस्ट-हाउस मे ही टिकाना उचित समझा गया !

जब तक हमारा कवि गट्ठर लेकर स्टेशन से बाहर निकले, मिनि-स्टर साहब की सवारी वहाँ से निकल चुकी थी और सारी सवारियों ने उनका अनुगमन किया था !

कवि इधर-उधर देखता रहा, कोई उसे पूछे ! कनेर की माला भी उसके लिए होगी, यह तो उसने आशा भी छोड दी थी ।

कोई पुछवैया नही ? और, उसे यह भी नही मालूम कि कवियों को टिकाने का स्थान कौन-सा चुना गया है ? उसके पास ७) का मनीआर्डर भेज दिया गया था और लिख दिया गया था, हम स्टेशन पर आपके

स्वागत के लिए उपस्थित रहेंगे ! स्टेशन पर स्वागत के लिए उपस्थित रहने वालों की तो कमी नहीं थी, किन्तु किसके स्वागत के लिए ?

एक बड़ी बाढ़ आई—जल-थल एक हो गये । नालों और तलैयों को कौन पूछे ?

और, कोई सवारी भी तो स्टेशन पर नहीं बच रही है । यह छोटा-सा स्टेशन । यहाँ सवारियाँ हीं कितनी । और कौनसा ऐसा अभागा होगा कि आज मिनिस्टर साहब की मोटर के पीछे साइकिल रिक्शा पर भी नहीं जाय !

हमारा कवि व्याकुल है । कुली कह रहा है, बाबू, अपना गट्ठर सम्हालिये, दूसरी ट्रेन आ रही है ! आज ही तो कुछ कमाई का डौल लगा है । मिनिस्टर साहब आये है आज बाबुओं की कमी नहीं होगी । कुली ने गट्ठर पटक दिया, कवि ने उसके हाथ मे एक दुअन्नी रखी । "आज भी दो ही आने ! मिनिस्टर साहब" .....

कवि झल्ला उठता है ! किन्तु कौन राड़ बिसाहे—एक आने और ! वह गट्ठर के सामने खड़ा है—क्या उसे इस गट्ठर को सर पर लेकर चलना होगा ?

कि, एक परिचित ! अरे, आप यहाँ ? क्या पीछे छूट गए ? क्यों छूट गये ? ओ, रिक्शा, रिक्शा ! बदमाश, कहा चले गये । तब तक एक बीड़ा पान खाइये । पान—पान वाला ! अरे, ये सब कहाँ खो गये ?

किस्सा कोताह—थोड़ी देर के बाद एक टुटहा इक्का आया । कविजी उस पर चढ़ा दिये गये और पग-पग पर हिचकोले खाते, किसी-किसी तरह एक धर्मशाला पहुँचाये गये, जहाँ कवियों के ठहरने का प्रबन्ध था ।

वहाँ क्या खाया, क्या पीया ? इसकी चर्चा फिजूल । जो कसर थी, वह तब पूरी हुई, जब रात में दो बजे तक कवितायें उगलने के बाद, ट्रेन पकड़ने के लिए स्टेशन की ओर चले, तो कविजी का गट्ठर उनके सर पर था ? हाँ, इसकी क्षतिपूर्ति-स्वरूप उनके गले में गेंदे की एक माला थी, जो कविता पढ़ने के पहले उनके गले मे डाल दी गई थी ।

यह तो हुई एक छोटे कवि की बात । एक बड़े कवि की, महाकवि की बात सुनिए !

हम दोनों एक ऐसे ही जल्से में जा रहे थे। स्वागत के लिए स्टेशन पर अच्छा प्रबन्ध था, मालये थी, मोटरें थीं। हम सोच रहे थे, लोगों में सुरुचि आ रही है, अब साहित्यकों का भी सम्मान हो रहा है।

कि महाकविजी स्वागत-मन्त्री से बोले, देखो भाई, मुझे इसके बाद की ही ट्रेन पकड़नी है। कोई सवारी का इन्तजाम किए रहना।

सवारी? सवारी की क्या कमी होगी?—मैं बीच ही में कह उठा।

महाकविजी ने कहा—अब तक एक हजार एक सौ कवि सम्मेलनों में जा चुका हूँ, कभी ऐसा नहीं हुआ कि लौटते समय सवारी पाने का सौभाग्य हुआ हो।

और, उन्होंने बताया, हाल ही हिन्दी के एक महान् आचार्य को किस तरह रात में सर पर गट्ठर लेकर स्टेशन तक आना पड़ा था! उनका दुर्भाग्य यह था कि उस जल्से में राष्ट्रपति जी पधारे थे और लोगों को उन्हीं से फुरसत नहीं मिली थी!

"नहीं, नहीं, यहाँ ऐसा नहीं होगा। आपसे बढ़कर यहाँ और कौन है?"—स्वागत मन्त्री ने कहा!

किन्तु, आश्चर्य!

लौटती बार सचमुच सवारी नहीं मिली। खैरियत थी, हम लोगों के पास गट्ठर नहीं था और रात चाँदनी थी। महाकविजी अपना सूटकेस झुलाते तेजी से बढ़ रहे थे, मैं अपना पोर्टफोलियो दबाये उनका अनुगमन कर रहा था!

जो थोड़ी देर पहले कविता पर कविता सुनाते जा रहे थे और तालियों की गड़गड़ाहट सुन रहे थे, उनकी जीभ जैसे सी दी गई हो! गुमसुम चले जा रहे थे।

स्टेशन पर पहुँच कर कहा—कहा था न, एक हजार, एक सौ, एक, कवि-सम्मेलनों में गया हूँ, कभी लौटती बार सवारी नहीं मिली, इसी से सम्मेलनों में कभी गट्ठर लेकर नहीं जाता।

थोड़ी देर बाद स्वागत-मन्त्री पहुँचे और लगे कैफियत देने—यह झमेला हो गई, वह झमेला हो गई! आप थोड़ा ठहर गये होते......

अब महाकवि के लिए असह्य हो गया। उन्होंने कहा, अच्छा तो

मुझसे गलती हुई, क्षमा कीजिये ! और जाइये, जो वहाँ अब भी ठहरे हुए हैं, उन बेचारों के लिए कुछ इन्तजाम कर दीजिये !

किन्तु, स्वागत-मंत्री भला हमें कैसे छोड़ते ?

और, उन बेचारों की क्या हालत हुई होगी, जरा कल्पना कीजिये !

संयोग से गाडी कुछ लेट थी। छोटे-बड़े सभी कवि अपने गट्ठर आप लिए स्टेशन पर पहुँचने लगे। हम उनसे हाल-चाल पूछने लगे कि पाया स्वागत-मंत्री वहाँ से खिसक चुके है !

यह है कविता का सम्मान, इस स्वतन्त्र भारत में, जिसके निर्माण मे कवियों का हाथ भी कुछ कम नहीं रहा है।

किन्तु, हम सोच रहे हैं, हमारे कवि और महाकवि कैसे जीव हैं कि एक हजार एक सौ एक बार ऐसा व्यवहार पाकर भी फिर ऐसे सम्मेलनों में जाते है !

किसी तुच्छ पशु-पंछी से भी आप दो-चार-दस बार बुरा व्यवहार कीजिये, वह आपसे फिरण्ट हो जायगा ! और, एक हम मानव नामधारी जीव हैं कि फिर वहीं जाते है, जहाँ बार-बार निरादर पाते हैं !

हम में यह कमजोरी कहाँ से आ गई है, क्यों आ गई है !

दुनिया मे शायद यही एक देश भारत है, जहाँ के कवि अपने श्रीमुख से अपनी कविता सुनाने को इतना उत्सुक रहते हैं। जहाँ बुलाया जाय, वहाँ दौड़े चले जाते है ; जब फरमाइश की जाय, कुछ कविता उगल देते है !

सामन्तशाही का यह अवशेष-चिह्न हमारे यहाँ अब तक कायम है।

पहले दरबार थे। दरबारों में गवैये-बजवैये रहते थे। नर्तकियाँ रहती थीं। कुछ कवि-शायर भी पाल दिये जाते थे !

दरबार के हर उत्सव मे गाना-बजाना हुआ, नाच-काछ हुई और टेढ़ी पगड़ी बाँधकर कवियों ने भी कुछ सुना दिया ! शायर की गजलों ने तो और कमाल किया।

हमारे देश की सामंतशाही का आखिरी दौर मुसलमानी था। जो हिन्दू-सामंत बचे-खुचे थे, उन्होंने भी मुसलमानी दरबारों का ही अनुसरण किया।

दरबारों में सभी शायरों के लिए गुञ्जायश कहाँ थी ? अत. मुशायरे का चलन हुआ। हर उस्ताद ने एक अपना खानगी दरबार बनाया। ये मुशायरे खूब लोकप्रिय हुए।

जब हिन्दी का जोर हुआ, इन मुशायरो की लोकप्रियता से आकृष्ट हो कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाने लगा।

मुशायरों के केन्द्र-विन्दु उस्ताद होते थे। उस्तादों के द्वारा काट-छाँट करके ही चीजे मुशायरो में पहुँचती थीं। इससे उर्दू को लाभ भी हुआ।

किन्तु, हिन्दी में उस्तादी परम्परा तो रही नही। अत: हमारे कवि-सम्मेलन प्रारम्भ से ही चों-चो के मुरब्बा रहे ! जरा चेहरा अच्छा हो, कण्ठ अच्छा हो, वाह वाह करने वालों का एक अपना गुट्ट हो, फिर क्या कहने ?

पिंगल की टाँग तोड़िये, व्याकरण का कचूमर निकालिये, भाषा का सत्यानाश कीजिये—कोई मुजायका नहीं। थिरकते जाइये अलापते जाइये, उछलते जाइये, चिङ्घारते जाइये, तालियो की गड़गड़ाहट पाते जाइये !

कवि-सम्मेलनो ने कवियों की सख्या इतनी बढ़ा दी है कि उस दिन एक कवि-मित्र ने कहा, सड़क पर एक ढेला फेंक दो, वह किसी-न-किसी कवि को ही लगेगा !

अब हर मौके पर कवि-सम्मेलन होगा और हर कवि-सम्मेलन के लिए अधिक-से-अधिक कवि मिल ही जाते है।

अति परिचयात् अवज्ञा—अति परिचय से अवज्ञा पैदा होती ही है !

देहात की बरात से लौटते समय जो हालत नर्तकियों की होती है, वही हालत कवि-सम्मेलनो से लौटते समय कवियो की हो रही है।

कुछ कवियो ने अपनी फीस भी बना ली है। फीस जमा कर दीजिये, जहाँ बुलाइये, ये सिर के बल पहुँच जायँगे।

सिक्के का दूसरा पहलू यह है।

उस दिन एक स्वागत-मंत्री ने कहा—जब फीस तय हो गई, तो फिर सम्मान-अपमान की क्या बात ?

कवियो के गले में जो मालाये हम डालते है, वह इसलिए नही कि हम उनका सम्मान कर रहे हैं, बल्कि मजलिस का तरीका यही रहा है !

यही नही, अब एक बात और आने वाली है !

कविताओ पर अठन्नी-चौवन्नी भी बरस कर रहेगी और तब यह तय कर लेना पडेगा कि फीस में इस चढौती की रकम को काटा जाय, या नही !

वह मखौल कर रहे थे, मै गडा जा रहा था।

क्या वाल्मीकि और व्यास, सूर और तुलसी के वशधरो का यही हश्र होने वाला था ?

जिन्होने कहा था—"ऐरे मूढ नृप तुम धन दिखलावे काँहि, आसी न तुम्हारे ये निवासी कल्पतरु के !" उन्ही के बाल-बच्चे कुछ रुपल्ली पर अपनी इज्जत बेचने को यो उतारू हो जायँ।

सुनाने की चाट जो हम मे लगी, वह हमे सब कुछ सुनने को लाचार कर रही है !

मुशायरो की नकल हमने चलाई, वह हमे लेकर डूबने जा रही है। कागज की नाव मे खेलवाड बच्चो को ही शोभता है, जो सयाना उस पर चढ कर पार करना चाहेगा, उसके डूबने के लिए चुल्लू भर पानी काफी है !

कवि, अपने को देख ! तू कहाँ भटक गया, तू कहाँ जा बैठा ? तेरे आस-पास कौन है ? तुझे क्या समझ रहे है ये ?

प्रकृति का सबसे सुकुमार बच्चा ! चमेली बनाकर तब विधाता ने तेरी रचना की !

वही रंग, वही गन्ध ! तू खिला, सारा बाग चमचम कर उठा, मँह-मँह कर उठा।

भौरे दौडे, भ्रमरियाँ दौड़ी ! रसिक दौडे, नाजनियाँ दौडी।

डाल का शृङ्गार, गले का हार बना ! शरीर शीतल हुआ, आत्मा तृप्त हुई !

किन्तु ! किन्तु······

कवि, यह अजब जमाना है ! घी मे चर्बी मिलाना ही आज का

राजगार है। अब फूलों से गन्ध नहीं निकाली जाती, कोलतार से एसेंस बुलाया जाता है!

तुझे कौन समझे? तुझे कौन दुलराये?

तेरे भोलेपन का नाजायज फायदा उठाया जा रहा है। तेरी प्यास का उपहास किया जा रहा है! तेरी भूख वह समझे, जो गेहूं को ही जीवन का सबसे उपयोगी तत्त्व समझता है?

वह तुझे फुसलाता है, भरमाता है, भटकाता है। तुझे गड्ढे में ढकेल कर चिल्लाता है—देखो, यह पियक्कड़ पड़ा है! तेरी पत्तल पर चार रोटियाँ फेंक पुकारता है, यह भुक्खड़ कहाँ से चला आया!

सारे जमाने ने तेरे विरुद्ध एक षड्यन्त्र का जाल बिछा रखा है!

तू भोला, उस जाल में फँसा छटपटा रहा है!

तोड़ इस जगजाल को, भ्रमजाल को! तू अपनी जगह पर बैठ। तू अपनी बात कह!

तुझे जो कहना है, कहता चल! तुझे क्या परवाह कोई सुनता है या नहीं!

जो सुनने वाला होगा, वह तेरे पास आप-आप आयगा!

तुझे अपने पास बुलाये, किस में इतनी जुर्रत है?

और जो तुझे गिरोह में, झुण्ड में बुलाता है क्या वह तुझे भेड़ नहीं समझता है?

भेड़ समझता है या भेड़िया—बात एक है। वह तुझे गड्ढे में गिराना चाहता है, या आपस में लड़ाकर मारना चाहता है!

"सिहन के लेंहड़े नहीं, हँसन की नहीं पांत!"

तेरा अकेला गर्जन सारे वन को थरथर कँपाने के लिए काफी है! तेरी अकेली उड़ान अनन्त नील गगन को प्रभासित, उद्भासित कर देने के लिए बहुत है!

तू अकेला विचरण करता आया है! तू अकेले उड़ान भरता आया है!

तू अकेला विचर, तू अकेला उड़!

ओ मृगेन्द्र, ओ राजहंस! इन शिकारियों से, इन बहेलियों से बच!

कवि, प्यारे कवि, मेरे कवि! अपने को पहचान! पहचान!

१६

साहित्य-कला और मध्यम-वर्ग

'जाति न पूछो साधु की'—कबीर ने कहा था। आज का कलाकार भी कह सकता है, क्यो परेशान हो कि मै किस वर्ग मे आया ? देखो यह कि मेरी कृति क्या है ?

लेकिन, तो भी, जैसे प्राचीन काल मे जाति पूछी जाती थी, तभी तो कबीर ने कहा, 'जाति न पूछो साधु की' उसी तरह आज का युग वर्ग की खोजढूंढ करेगा ही ! खासकर जब वह समाज के ढाँचे का विश्लेषण करने बैठा हो।

समाज के ढाँचे मे वर्ग खोजने की यह पद्धति कार्लमार्क्स ने निकाली उन्होने दो छोर पर दो वर्गो को रखा—पूंजीपति और मजदूर और बीच के एक वर्ग को मध्यमवर्ग कहा, जिसमे किसान, कारीगर, दिमाग-पेशा आदि लोगो को उन्होने रखा।

बात यही तक रहती, तो कोई बात नही थी। उन्होंने एक बुरी भविष्यवाणी कर दी कि मध्यमवर्ग धीरे-धीरे नाश को प्राप्त होगा-उसे या तो पूंजीपतियो के गिरोह में शामिल हो जाना होगा, या मजदूरो के झुण्ड मे।

आज के समाज मे जो आर्थिक नियम काम कर रहे हैं, उसका अनिवार्य परिणाम यही होगा, उन्होने बड़े जोर देकर यह बात कही थी।

मार्क्स की इस भविष्यवाणी को एक सौ वर्ष हो गये, बल्कि उससे भी अधिक, इसके दरम्यान कितने उथल-पुथल हुए, कितनी क्रान्तियाँ हुई, ताज-पर-ताज गिरे, देशो के नक्शे बदले, किन्तु यह मध्यवर्ग कायम ही नहीं है, उसका प्रभाव और प्रभुत्व भी बढता जाता है !

लगता है, इसकी जड कुछ इतनी गहरी है, इतनी गहरी कि इसका

मूल किसी अमृत-कुंड तक पहुँच चुका है, फलतः वहाँ से जीवन का वह रस इसे अनवरत प्राप्त हो रहा है जिसने इसे मृत्यु पर विजय दिला दी है, इसमे बढने, फैलने, फूलने की निस्सीम शक्ति दे दी है।

वह अमृत-स्रोत क्या है, कहाँ है, अभी हमे इतनी दूर तक नही जाना है। 'फलेन परिचीयते' अनुसार यदि हम यह देख लें कि इस वर्ग ने समाज को दिया क्या है, तो भी हमारा काम चल जाय।

कला और साहित्य को हम ले। और उसे हम यूरोप से इसलिए शुरू करे कि वहाँ इस दृष्टि से काफी खोज-ढूढ भी हुई है। यदि किसी क्षेत्र में नही हुई, तो काफी सामग्रियाँ वहाँ एकत्र है, जिनको आधार मानकर हम सही नतीजे पर पहुँच सकते है!

लियोनार्दो द विंची से लेकर पिकासो तक—यूरोप के सभी कलाकारों को देखिये, वे किस वर्ग से आये थे? इटली की कला को प्राचीन यूरोप की कला भी कह सकते है—महान् त्रिमूर्ति लियोनार्दो, माइकेल, ऐंजेलो, राफेल—तीनो ही तो मध्यवर्ग की सतान थे और मध्यवर्ग की सारी कठिनाइयो को पार करते हुए वे आगे बढे, जिन्दगी-भर परिस्थितियों से लडते रहे—और तो भी वे चीजे दे गये कि उन्ही के आधार पर यूरोप की कला आज तक फूलती-फलती आई है।

इसमे शक हो सकता है कि सबसे बडा कलाकार कौन—किन्तु सबसे बडा चित्रकार तो रुबेन है, इसे सबने स्वीकार किया है। शब्दो की दुनिया मे जो स्थान शेक्सपीअर का है, रगों की दुनिया मे वह स्थान रुबेन को मिला है। यह फ्लेमिश कलाकार कौन था? एक मध्यवित्त परिवार की संतान। सात भाषाओ का जानकार। एंटवर्प मे उसका घर तत्कालीन यूरोपीयन कलाकारो का तीर्थस्थान था, जहाँ से उसने तीन हजार चित्र यूरोप के राजभवनो, गिरजाघरो और कला सग्रहालय के लिए भेजे!

वेनिस के तिशियानो, हालैंड के बृगल और रेमब्रां, ग्रीस का एलग्रेको, पुर्तगाल का वेलास्केज, स्पेन का गोया, इगलैंड का ब्लेक, अमेरिका का औडुबन, फ्रांस की आधुनिक कला की त्रिमूर्ति—देगिये, माने और लाउत्रे—फिर सिजाने, जिसकी कला को चरम सीमा तक पहुँचाया है

पिकासो ने और स्वयं पिकासो—ये सबके सब किस वर्ग से आये ? मध्य-वर्ग से ही तो ? चाहे उसकी निचली सतह से या ऊपरी सतह से।

हाल ही समरसेट मॉडम की एक पुस्तक निकली है, जिसमे उसने ससार के दस सर्वश्रेष्ठ उपन्यासो और उपन्यासकारो पर प्रकाश डाला है। उसमे सिर्फ एक टाल्स्टाय को आप मध्यवर्ग से बाद दे सकते है, वह भी मुश्किल से, किन्तु शेष नौ तो इसी वर्ग से आये है। मॉडम की राय मे बालजक ससार का सबसे बड़ा उपन्यासकार है—उसके आविष्कार महान् थे, उसने जितने प्रकार के पात्र पैदा किये, उतने न कोई पैदा कर सका न कर सकेगा। मानो, वह प्रकृति की अदम्य शक्ति था—एक ऐसी नदी जो घहराती, किनारो को डुबोती, हर चीज को बहाती-भसाती चलती है, एक ऐसी आँधी जो गाँवो को झकझोरती और शहरो को चर्र-मर्र कराती अनवरत बढती जाती है। एक वकील का बेटा बाप ने चाहा, वकील बने, लेकिन वह बन गया लेखक और लेखक भी कैसा ?

हेनरी फीलडिग, जेन आस्टिन, स्तेंघल, एमिली बोटे, गुस्तेव फ्लाउवर डिकेस, दोस्तियोवेस्की, मेलविले—मॉडम के द्वारा बताये ये सभी उपन्यास-कार मध्यवर्ग से ही आये थे।

यूरोपीय रगमच—चाहे नाटककार या अभिनेता किसी भी दृष्टि से देखिये—अपनी उन्नति और विकास के लिए मध्यवर्ग का ही अनुग्रहीत है। शेक्सपीअर किस वर्ग से आया था और बर्नार्ड शॉ ? मौलियर और गेटे किस वर्ग की देन थे ? इब्सन, मेटरलिक, चेकोव—तीनो के तीन रग तीन देश, तीन भेष, किन्तु आदि स्रोत तीनो का एक ही—मध्यवर्ग। गैरिक, थेल्मा, बेन जौन्सन, एलेन टेरी, सारा बर्नहार्त—ये अभिनेता और अभिनेत्रियाँ—जिनकी भावभगिमाओं ने रूखे-सूखे अक्षरों मे जान डाल दी, उन्हे साकार कर दिया, लाखो दर्शको को हँसाया और रुलाया—वे सबके सब किस वर्ग से आए थे ?

पश्चिमी सगीत और उसकी जुड़वी सतान ओपेरा और बैले अपने मनोहारी रूप के लिए मध्यवर्ग के ही ऋणी है। बिठोवन, मोजार्ट, वागनर, बाख, लिस्ज, चोपिन, स्विजालेआजिनी, रखोयनवर्ग, स्ट्रा-विंस्की—स्वरो के ये जादूगर, जिनकी जादूगरी आज भी यूरोप पर छाई

हुई है, उसी वर्ग से आये, आते रहे, आ रहे है, जिसकी मृत्यु की भविष्य-वाणी कर दी गई थी।

बिठोवन के जीवन की एक घटना याद रही है। एक दिन बिठोवन अपने प्यारे दोस्त गेटे के साथ सडक से जा रहा था कि सामने से शाह की सवारी निकली। नियमानुसार गेटे ने टोपी उतार ली और सर झुका कर खडा हो गया। यह देखते ही बिठोवन जल उठा, उसने कड़ककर कहा—गेटे, गेटे, तुमने कलाकार की इज्जत धूल मे मिला दी। और टोपी फिर सर पर रखे, वह अकडकर, सडक पर टहलने लगा। जर्मनी के शाह ने उसे देखा, मुस्कराया और फिर अपने देश के गौरव इस कला-कार को अपनी गाडी पर बिठा लिया। क्या बिठोवन ने ऐसा करके यह सिद्ध किया था, मध्यवर्ग सबसे महत्वपूर्ण वर्ग है? उसके सामने ऊचा दिखाई पडनेवाला वर्ग भी कुछ वुकत नही रखता है? आज उस शाह का नाम भी लोग भूल गये, किन्तु रोम्यारोलॉं ने हाल ही कहा था—बिठोवन के सगीत की एक कडी पर राजनीतिज्ञों द्वारा किये गये दर्जनो क्रातिकारी सुधारों को निछावर किया जा सकता है।

जैसा पहले कह चुका हूँ—अपने देश के कलाकारो और साहित्य-कारो के वश या वर्ग के बारे मे अभी पूरा पता नही लगाया जा सका है। अनुश्रुतियो और जनश्रुतियो के ताने-बाने बुनकर ही हम उनके बारे मे कुछ जान सके हैं। किन्तु, जहॉं से इतिहास हमारा साथ देता है, हम पाते है, मध्यवर्ग ही वह खान रही है, जहॉं से हम कला और साहित्य के उत्तमोत्तम रत्न पाते रहे है! विद्यापति किस वर्ग से आये थे? 'दियो जनम सुकुल, शरीर सुन्दर'—का अभिमान करने वाले बाबा तुलसीदास का जन्म किस वर्ग से हुआ था? वह कौन सा सौभाग्यशाली वर्ग है जिसने देव, बिहारी, मतिराम से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द और प्रसाद तक की उत्तमोत्तम कवियो, लेखको, कथाकारो, नाटककारो और आलोचको की सुनहली माला मॉं-हिन्दी के गले मे डालकर उसकी श्री शोभा मे वृद्धि की? यो ही तानसेन से लेकर फैयाज खॉं और ओकार-नाथ ठाकुर तक की संगीत-धारा मे किस वर्ग की स्वर-काकली गूजती हुई हम पाते है?

अन्य भारतीय भाषाओं की भी यही हालत है—तुकाराम, नरसी मेहता, चैतन्यदेव, मीर और गालिब से लेकर खाँडेकर, मुन्शी, शरद, रवीन्द्रनाथ, इकबाल और जोश किस वर्ग से आये हैं ! संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि यदि कला और साहित्य के क्षेत्र से मध्यवर्ग को निकाल दीजिये, तो वह नगण्य ही नहीं, शून्य ही शून्य नजर आयगा।

प्रश्न उठ सकता है, मध्यवर्ग का यों सभी क्षेत्रों पर छाये रहने के कारण क्या है ? खासकर कला और साहित्य मे इसकी जो अपार महिमा है, उसकी तह में क्या है ?

मध्यवर्ग न तो अपने ऊपर के वर्ग—सामंत या पूँजीपति की तरह निश्चित आय पर निश्चिन्त जीवन बिता सकता है, न अपने नीचे के वर्ग—मजदूर या कमिया की तरह फटेहाली में रह सकता है। इसलिए उसे निरन्तर संघर्ष में रहना पड़ता है। इस संघर्ष ने उसमे कई गुणों का विकास किया है—जहाँ उसके ऊपर के वर्ग के लोगों में आलस और विलास का बोलबाला है और उसके नीचे के वर्ग मे मूर्खता और किंकर्तव्य-विमूढता का दौरदौरा है, वहाँ इस वर्ग मे सतत चैतन्य, अनवरत उद्योग और अटूट अध्यवसाय की भावना कूट-कूट कर भरी है। समय की सूझ, कष्ट-सहन की क्षमता सदा आगे बढ़ने और ऊपर चढ़ने की लालसा और नये-नये ज्ञान की जिज्ञासा इसकी नस-नस मे व्याप्त है। यह दो पाटों की बीच में है—ऊपर ज्वालामुखी है, नीचे अथाह समुद्र—एक जलाकर खाक बनाने और दूसरा इसे अपने मे उदरसात करने को सदा तैयार बैठे है। अत. पग-पग पर फूँक-फूँक कर चलना पड़ता है, जहाँ जरा-सी चूक हुई, पैर में रपट आई, आँखों मे चकाचौंध लगी, तो यह गया ! इसलिए इसमे उपर्युक्त गुणों का स्वभावत. ही विकास हुआ है। यह भी सही है कि इसी कारण से इसमें कुछ दुर्गुण भी आये, जिसके चलते यह बदनाम हुआ, समाज ने इसे शंका की दृष्टि से देखा, इसे कष्ट भी कम उठाना नही पड़ा—किन्तु, तो भी यह डटा है और बहुत दिनों तक डटा रहेगा। जो इसकी उपेक्षा करेगा, वह अपना नुकसान आप करेगा। खुशी की बात यह है कि कट्टर मार्क्सवादी भी इस वर्ग के प्रति अपना रुख बदल रहे है !

कला और साहित्य मे इस वर्ग की एकछत्रता का कारण स्पष्ट है, किन्तु कभी अधिक स्पष्टता भी लोगो में अज्ञान का सचार करती है। है। एक जमाना था, जब कहा जाता था, कला विलास की जननी है। कवियो और लेखको की सदा उपेक्षा होती रही, क्योंकि मान लिया गया था, ये लोग स्वप्नदर्शी हैं। धीरे-धीरे यह मान्यता समाप्त हो रही है! किन्तु अब भी इस पर ध्यान नहीं दिया जाता कि यह क्या बात है कि किसी के दिमाग में वह खूबी पैदा हो जाती है कि वह कूची या हथौड़े से नई-नई सूरते गढने लगता है, कोई गुनगुनाने और गाने लगता है या कोई कागज पर कलेजा निकालकर रखने लगता है—जो हमें रुलाता है, हँसाता है। मानता हूँ, ये बारीक बाते है, इन पर गहरी छानबीन होनी चाहिये। किन्तु, यह तो हम नित्य देखते ही है कि इस अजीबो-गरीब बीमारी के लग जाने के कारण के लिए एक खास परिस्थिति होती है, एक खास वातावरण होता है। ऐश्वर्य मे, भोग मे, विलास मे डूबे हुए सामत या पूंजीपति के मस्तिष्क में, हृदय मे, धमनियो में वह स्पन्दन, स्फुरण, आलोडन हो नहीं सकता, जो चित्र, सगीत, कविता या किसी भी कलाकृति के सृजन के लिए अपेक्षित है। यो ही दिन रात भूख से युद्ध करता हुआ, थका-हारा, सर्वहारा भी क्या खाकर इस कूचे मे आ सकता है? अपवाद भी हो सकते है, हुए है। किन्तु अपवाद तो नियम को सिद्ध ही करते है। यह मध्य-वर्ग ही है, जो भूख और तृप्ति के बीच खड़ा होकर, कभी इसकी छटपटाहट और कभी उसकी सुगबुगाहट का लुत्फ लेता हुआ, उस चीज की सृष्टि कर ले जाता है, जो इन चीजों से ऊपर है, परे है, सत्य है, शिव है, सुन्दर है।

१७

बैले या नृत्य-रूपक

जब मैं विलायत जा रहा था, मेरे एक अनुभवी मित्र ने कहा था—यूरोप मे रंगमंच जरूर देखियेगा। वहाँ के रंगमंच वहाँ वालो के लिए तीर्थ-स्थान हैं।

और यह सच है कि अपनी दो बार की यूरोप-यात्रा मे मै कोई भी ऐसा मौका नही चूक सका जबकि वहाँ के रंगमंच को देख सकूं। लन्दन, पेरिस, रोम—सब जगह मुझे धुन लगी रही वहाँ के रंगमंच को देखने की।

यूरोप मे नाट्यकला बहुत ही विकसित अवस्था मे है। हम वहाँ के रंगमंच के विकसित रूप की यहाँ कल्पना भी नही कर सकते। उसमे दिन-दिन परिवर्तन और परिवर्द्धन होते जा रहे है।

बैले की बात लीजिये। बैले को नृत्य-रूपक कहिये। मंच के नीचे वाद्य-समूह है, जिससे संगीत की ध्वनि निकल रही है और उसी ध्वनि के आधार पर रंगमंच पर नृत्य हो रहा है। संगीत की ध्वनि और नृत्य की धमक के अतिरिक्त कही कोई शब्द नहीं।

लन्दन में जब पहली बार गया, "फेस्टिवल ऑफ ब्रिटेन" की धूम थी। उस उत्सव के अवसर पर लन्दन में मारकोवा का बैले चल रहा था। मारकोवा नाम से मैंने समझा था, कोई रूसी नर्तकी होगी। किन्तु पता चला, नही, यह तो अंगरेज महिला है। बैले के साथ रूस का ऐसा अनन्य सम्बन्ध जुड़ गया है कि दूसरे देशों की नर्तकियो को भी अपने नाम को रूसी बना लेना जरूरी जचता है।

मै मारकोवा का बैले देखने गया। पाँच तल्ले का रंगमंच—खचा-खच भरा हुआ। बैले शुरू हुआ नृत्य के कोई आठ टुकड़े होंगे तरह

तरह के रंग के। किसी में हास्य किसी में शृङ्गार। किसी में करुण, किसी में रौद्र। जनसाधारण में प्रचलित कथाओं के आधार पर ही वे नृत्य तैयार किये गये थे। रंगमंच के नीचे वाद्य-समूह, जो निर्देशक की छड़ी के इशारे पर तीव्र या मन्द होता हुआ। ऊपर उसी के लय पर नृत्य हो रहे। जवानी भी, कला भी, लोग तालियाँ पीट रहे, हर्ष-ध्वनि कर रहे।

किन्तु, जब पेरिस गया और शॉजेलीजे-थियेटर में स्ट्राविन्स्की का बैले देखा, तो लगा यह दूसरी दुनिया आ गई। यूरोप की कला धीरे-धीरे सूक्ष्मता की चरम सीमा पर पहुँच रही है, जहाँ सिर्फ संकेत ही संकेत है। चित्रकला, मूर्तिकला, कविता, संगीत, नृत्य सब पर यह प्रवृत्ति हावी हो रही है। स्ट्राविन्स्की—यूरोप के संगीतज्ञों का यह वृद्धगिष्ठ—जिसे लोग बाख, वागनर आदि की पीढ़ी में मानते हैं।

इस रंगमंच के सामने लंदन का रंगमंच कितना पुराना लगता था। शॉजेलीजे—पेरिस की स्वर्गभूमि। जब उसके कक्ष में बैठा था पृथ्वी भूल गई थी, लगता था, स्वर्ग के किसी हिस्से में हूँ।

स्ट्राविन्स्की के संगीत ने रंगमंच पर भी स्थान जमा लिया था। रंगमंच के नीचे ही नहीं, उसके ऊपर भी वाद्य-समूह के वाद्य और बालकों का दल डटा था। सोचने लगा, अब नृत्य कहाँ होगा? कि बूढ़ा संगीत-निर्माता आया तालियाँ गड़गड़ाईं। उसकी छड़ी के इशारे पर बाजे बजने लगे। स्वरों का चढ़ाव, उतार। चढ़ाव जब आता था, विक्षिप्त समुद्र का गर्जन हो रहा है। उतार जब लगता था, गम्भीर शान्ति छा गई। सिर्फ हाथों का कम्पन बताता था, बाजे बज ही रहे हैं।

अचानक, मंच के ऊपर जो पर्दा था, उसमें एक चौकोर फाँक बन गई और उसमें कुछ मूरतें चलती-सी नजर आईं। वे मूरतें—क्या वे मूरतें थीं, या मूरतों के संकेत। स्वर के ताल के साथ उनके पैरों की गति बँधी थी, किन्तु क्या उसे नृत्य कहा जा सकता है? तो उसे कहा क्या जायगा? संकेत, संकेत, संकेत।—नृत्य, हावभाव, सब संकेत में ही।

किन्तु, जब तक पेरिस के 'ओपेरा-हाउस" का बैले न देख

लीजिए, तब तक आपका कलाराधन अधूरा ही रहेगा। किन्तु ओपेरा-हाउस के लिए टिकट पाना क्या आसान है? होटल वाले से जब-जब कहा, उसने फोन किया, बताया, जगह खाली नहीं।

एक दिन सवेरे से जाकर वहा मँडराने लगा और जैसे-तैसे जगह मिल ही गई।

उस दिन एक ओपेरा और बैले दोनो का कार्यक्रम था। पहले ओपेरा हुआ, फिर इण्टरवल के बाद बैले शुरू हुआ।

मच के नीचे वाद्य-समूह, मच पर बैले—यह पुरानी प्रणाली ही वहां चल रही थी, उस दिन। कामदेव अपना कुसुम-शायक लिए बैठे है। तरह-तरह के प्रेमी और प्रेमिकाओ के जोडे आते है। एक बुढिया एक युवक पर मर रही है। एक बुड्ढा एक किशोरी पर मर रहा है। यो ही सुन्दर, कुरूप, अन्धा, मृगनयनी, कूबडा, तन्वगी आदि के अद्भुत जोडे। वे एक दूसरे को फटकारते है, दुत्कारते हैं, एक दूसरे से भागते है। संगीत में सुलाने वाली ध्वनि निकलती है, सभी सो जाते है, कि काम अपना धनुष सँभालता है, उन पर अपने फूलों के तीर छोडता है। वे जगते है और लीजिए, किस तरह एक दूसरे पर बलिहार जाते है एक दूसरे मे चिपक जाते है!

लगभग पौन घण्टे का यह बैले। सचमुच जादू लगता था। ओपेरा-हाउस यूरोप का सबसे विशाल रगमंच है। ससार का वह सबसे पुराना जीवित रगमच है। उसके साथ एक मर्यादित परम्परा है, जिसकी छाया भी कोई दूसरा रगमंच छू नही सकता। इस छोटे-से बैले में उसकी तीन सौ वर्षों की कला-परम्परा प्रस्फुटित हो रही थी।

जब दूसरी बार लन्दन गया था, पता चला, वहाँ युगोस्लाविया की एक बैले-पार्टी आई है। इस पार्टी को युगोस्लाविया की सरकार ने भेजा था। इस पार्टी के नृत्य-संगीत को देखकर आश्चर्य हुआ। उसमें कितना पूर्वी रग था। श्रृङ्गार, परिधान सब में एशियाई छाप, बाजो की शकल-सूरत भी वैसी ही। लगता था, नेपालियों की यह पार्टी हो। मुझे इतनी समता लगी, कि उसी दिन अपने एक नेपाली मित्र को पत्र लिखने से नही चूक सका।

नाजियों के विरुद्ध जो छापामार आन्दोलन चला था, उसे नृत्य और संगीत में इस तरह बाँध दिया गया था कि मन में बार-बार हूक उठती थी, काश, हम ब्यालीस की अगस्त क्रान्ति को इसी तरह कला-रूप देते। एक बार उत्कल के कुछ कलाकारों ने बयालीस की क्रान्ति पर एक ऐसा ही बैले पटना में प्रस्तुत किया था। किन्तु साधनहीनता के कारण ऐसी यथार्थता उसमें नहीं आ सकी थी।

रोम में एक रात इतालवी बैले देखने गया था। वह एक बगीचे में "खुला रंगमंच" पर दिखाया जा रहा था। मनोरंजन-पक्ष ही इसमें प्रबल था, हल्का-सा मनोरंजन, जो दिन भर की थकावट के बाद काम-काजू लोगों में नई स्फूर्ति देने के लिए आवश्यक होता है।

इस समय अपने देश में रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान गया है। प्रायः हर प्रदेश में कुछ-न-कुछ किया जा रहा है। राज्य-सरकारें भी ऐसी चीजों को प्रोत्साहन दे रही हैं। जहाँ तक पुरानी चीजों को फिर से जीवित करने का सवाल है, हम बहुत कुछ कर रहे हैं। किन्तु आवश्यक यह जँचता है कि अन्य देशों में रंगमंच के भिन्न-भिन्न पहलुओं का जो विकास हो रहा है, हम उनसे भी सीखें। अब कला को सीमा में, चाहे काल की सीमा में या देश की सीमा में, बाँध नहीं सकते। बाँधना न व्यावहारिक है, न वाँछनीय है।

१८

साँस्कृतिक स्वाधीनता की ओर

जिस काम को पूरा करने मे देश-देश के राजनीतिज्ञ और बड़े-बडे सेनानायक, राज्यो के सम्पूर्ण साधनों और नाना प्रकार के भीषण अस्त्र-शस्त्रों के बावजूद, अपने को असमर्थ पा रहे हैं, उस काम के सम्पन्न करने के प्रयत्न में वे लोग आगे बढ रहे हैं, हाथों में सिर्फ कलम या कूची रही है या जो मानव भावनाओ का प्रकटीकरण अगो की भगिमा या स्वर-लहरी द्वारा करते आये है। ये कलाकार, ये साहित्यकार, ये शिल्पी, ये सगीत-शास्त्री क्या एक असम्भव कार्य को सम्भव करने का सपना नही देख रहे है ?

आप इसे सपना ही मानें, किन्तु अनेक सपनों की तरह यह सपना भी एक ठोस सत्य सिद्ध हो रहा है। पेरिस मे एक महीने तक जो आयोजन चलता रहा, यदि आप एक बार उसे देख लिए होते, तो मेरे कथन की सार्थकता में आपका जरा भी सन्देह नहीं रह जाता।

जब पिछला युद्ध चल रहा था, कहा गया था, यह युद्ध संसार से तानाशाही को नष्ट करने के लिए लड़ा जा रहा है, जो मानवता को पीसने वाली, स्वाधीनता का गला घोटने वाली और सारे मानव इतिहास को बर्बरता की ओर लेजानेवाली है। किन्तु उस युद्ध को समाप्त हुए आधे युग बीत गये, मानवता आज भी कराह रही है, स्वाधीनता के हाथ-पैर आज भी कसे हैं, बर्बरता आज भी अपना विकराल मुह बनाये खड़ी है। एक प्रकार की तानाशाही पूरी तरह खत्म भी नही हुई कि दूसरे प्रकार की तानाशाही सुरसा की तरह मुह फैलाये जा रही है। मालूम देता है, यह राक्षसी जैसे सबको निगल कर रहेगी। उसका विस्तार बढता जा रहा है उसकी बढ़ती जा रही है हर

देश की सीमा पर ही नही, हर घर के दरवाजे पर उसकी सर्वग्रासनी काली छाया दिखाई पड रही है।

कलाकार या साहित्यिकार क्या करे ? क्या वह चुपचाप यह दृश्य देखा करे और सोचे कि यह मेरा काम नही ; अरे इस राक्षसी से लडने की ताकत भी तो मुझ मे नही। छोड़ दो इस काम को उन लोगो पर जिनके हाथो में इससे लडने के सारे साधन केन्द्रित है। चलो, हम-तुम बन्द करले अपने को कल्पना के किसी हवाई महल में और वही से सौन्दर्य और प्रेम के, मिलन और विरह के मधुर-मोहक सगीत उडेलते रहे ! काश, साहित्यिकार और कलाकार की तकदीर में यह काल्पनिक सुख भी बँदा होता !

हमारे देश के कलाकार और साहित्यिकार अभी उस विभीषिका से परिचित नही है जो तानाशाही का अनिवार्य परिणाम है। अभी हम मीठे-मीठे सपनों में भूले है और मधुर-मधुर बातो मे भटक जाना हमारा स्वभाव हो गया है। तभी तो तानाशाही के एजेण्टों द्वारा नाना नामो से बुने जाने वाले मकडजालो में हम आये दिन अपने को फँसा लेते है और यदि एक बार फँस गये, तो क्या उनसे पिड छुड़ाना इतना आसान है ? किन्तु यहाँ पेरिस मे पन्द्रह देशो के जो सरस्वती के वर-पुत्र पधारे है—खासकर यूरोप के—आप उनके चेहरे देखिये और यदि सम्भव होता तो इनसे बाते करते, तब आपको मालूम पडे कि तानाशाही क्या चीज है और किस प्रकार उसका सबसे पहला शिकार कलाकार या साहित्यिकार नामक इस कोमल प्राणी को ही होना पड़ता है ! भाषा की कठिनाई के कारण भले ही उनकी वाणी आप नही समझ पावे, किन्तु उनके चेहरो पर तानाशाही की विभीषिकाओ के चिन्ह आप स्पष्ट पायेगे और उनकी आँखे बतायेंगी कि इसके विरुद्ध मे वे "करो या मरो" के निश्चय की शपथ ले चुके हैं।

सास्कृतिक स्वाधीनता काँग्रेस की ओर से आयोजित इस महान् अनुष्ठान के साहित्यिक विभाग का श्रीगणेश १६ मई, १६५२ को हुआ। पेरिस के एक प्रतिष्ठित सभा-भवन में देश-देश से आये लगभग एक सौ प्रतिनिधि और हजारो दर्शक एकत्र हुए। उन प्रतिनिधियों को देख कर,

और उसमें बोलने वाले वक्ताओ के भाषरण सुन कर, तथा दर्शको पर होने वाली प्रतिक्रिया का अनुभव कर यह स्पष्ट हो जाता था कि सास्कृतिक स्वाधीनता कोई काल्पनिक बात नही रह गई है—वह कलाकार के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गई है। कांग्रेस के मन्त्री श्री निकोलस जैबोकौव के स्वागत भाषरण से लेकर उस दिन के सभापति सलवदर द मादरियगा के भाषरण तक से यही ध्वनि निकलती थी। दक्षिणी अमेरिका के प्रसिद्ध पत्रकार श्री सैण्टोस, अमेरिका की उपन्यास लेखिका श्रीमती कैथरिन ऐने पोर्टर, फ्रांसीसी लेखक जीन ग्वेहेनो, सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि स्टेफेन स्पेण्डर, फ्रांस के समाजशास्त्री रोजर शाइलाई, इतालियन उपन्यासकार ग्विदो पियोविन और इस कांग्रेस की कार्य-समिति के सभापति स्वीजरलैण्ड के श्री देनिस द रुजमो—सबने इसी बात पर जोर दिया कि कलाकार अपने को चारो ओर के वातावरण से पृथक नही रख सकता, उसकी कला का विकास तभी सम्भव है जब उसके उपयुक्त स्वाधीन और उन्मुक्त वायुमण्डल हो, कलाकार को यह नही भूलना चाहिये कि वह एक नागरिक भी है और फलतः उसका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह स्वाधीनता और न्याय के लिए लडे। फ्रांसीसी लेखक साइलोई ने पिछले पचास वर्ष के यूरोपीय साहित्य की छानबीन करते हुए कहा—'पिछले पचास वर्षो के साहित्यिक ससार ने अपने को दूषित और घिनौना बना डाला क्योकि वह या तो कल्पना-लोक में रमता रहा या विलासिता के चाकचिक्य में फँसा रहा। उसने अपने साहित्य में मानव के लिए कही स्थान ही नही रहने दिया या जहाँ उसे जगह भी दी तो महानता मे नही, विभीषिका मे। और रुजमो ने इन शब्दों में आज के कलाकार और साहित्यकार के लिए दिशा-निर्देश किया—"तात्कालिक सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में लेखक स्वाधीनता का प्रधान उपादान होना है। उसका कर्तव्य है कि वह उन हरकतो के खिलाफ आवाज उठाये जो उसके निर्माण के अधिकार पर बेजा दखल देती है। यदि वह ऐसा नही करता है, तो एक दिन उसे चुप बैठने का अधिकार भी खो देना पडेगा।"

अब लेखक या कलाविद चुप बैठा नही रहेगा, यह कांग्रेस इस बात

की सूचना देती थी। अपनी छोटी जिन्दगी मे ही इसने लेखकों, कलाकारो, दार्शनिको और वैज्ञानिको का एक विशाल सगठन कर लिया है। इसके सम्माननीय सभापतियों मे बेनेदेत्तो क्रोचे, जौन डीवी, कार्ल जैस्पर्स, जैक्स मेरीते, सलावदरद मादरियागा और बर्ट्रेंड रसल ऐसे ससार के गिने-चुने महापुरुष है। इस साहित्यिक आयोजन मे ही रूस, जर्मनी, डेनमार्क, हालैंड, स्वीजरलेंड, स्पेन, इटली, रूमानिया, पोलैंड, आस्ट्रिया, ग्रीस, फ्रांस, इंगलैंड, अमेरिका, ब्राजिल के वे साहित्यिक सम्मिलित हुए थे। जिनकी रचनाओ का अंग्रेजी अनुवाद पढकर हम तृप्त होते रहे है। आडेन लुई मेकनिस और स्पेन्डर ऐसे अग्रेजी के तीन आधुनिक कवि भी पधारे, जिनकी रचनाओ ने हिन्दी कविता को भी कम प्रभावित नही किया है। साहित्य और भाषा सम्बन्धी चार गम्भीर प्रश्नों पर विचार हुआ। अन्तिम दिन "संस्कृति का भविष्य' पर जो बाते हुई, उसमें नोबेल पुरस्कार विजेता विलियम फौकनर, सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक आन्द्रे मालरो और इटालियन उपन्यासकार इग्नात्सियो सिलोने ऐसे साहित्यक-महारथियो ने भाग लिया।

इन विचार-विमर्षों के अतिरिक्त इस अवसर पर बीसवी सदी की सर्वोत्कृष्ट कलाकृतियो के प्रदर्शन का भी आयोजन किया गया था। स्वाधीनता के वातावरण में कला का किस प्रकार सर्वमुखी विकास सम्भव है, इसे सिर्फ शब्दों द्वारा ही नही, मूल कृतियो द्वारा सिद्ध करने का ऐसा प्रयास शायद ही कभी किया गया हो। एक महीने तक पेरिस मे साहित्य, सगीत और कला की त्रिवेणी बहती रही। इसमे जिसने अवगाहन किया, वह धन्य हुआ। स्वर की दुनियाँ मे, रग की दुनियाँ में, भगिमा की दुनिया मे और शब्द की दुनिया मे इस पिछली आधी शताब्दि मे जैसे-जैसे प्रयोग हुए है, उनके उदाहरणो को प्रत्यक्ष देखकर कौन विस्मय-विमुग्ध नही होता!

मुख्यत यह आयोजन पश्चिमी देशो से ही सम्बन्ध रखता था— एशिया से सिर्फ कुछ लोग बुला लिये गये है। भारत, जापान और इण्डो-चाइना के ही प्रतिनिधि आये थे। हमने इसके उन्नायको से बाते की और

उन्होंने स्वीकार किया कि एशिया के लिए एक ऐसा आयोजन यथासाध्य किया जाना चाहिये।

तानाशाही की राक्षसी की बाढ़ को रोकने के लिए सबसे आवश्यक यह है कि एशिया पर अधिक ध्यान दिया जाय—हमने इस सांस्कृतिक स्वाधीनता कांग्रेस के अधिकारियों पर बार-बार जोर दिया। यूरोप में उसकी बाढ़ रुक-सी गई है। उसके खिलाफ प्रचंड वायुमंडल तैयार हो गया है! किन्तु एशिया में उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। पश्चिमी देशों की साम्राज्यशाही नीति ने उसके लिए यहाँ जरखेज जमीन भी तैयार कर रखी है। तानाशाही साहित्य इतनी सस्ती कीमत पर इतने बड़े पैमाने पर वितरित हो रहा है कि पढ़ेलिखे लोगों का दिमाग दिन-दिन खराब होता जा रहा है। कला-प्रदर्शिनियों की आड़ में भी ताना-शाही के पक्ष में जनमत तैयार किया जा रहा है। इन सबकी काट का उपाय सोचना है।

यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि मैं जिस भाषा का वहाँ प्रति-निधित्व करता था, उसके विस्तृत क्षेत्र ने पिछले चुनाव में ही सिद्ध कर दिया था कि वह तानाशाही को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। नौ बड़े-बड़े राज्यों की अट्ठारह करोड़ की जनसंख्या वाले इस हिन्दी क्षेत्र में तानाशाही का समर्थक एक भी कहीं से नहीं जीत सका! यह क्षेत्र सदा से भारत का हृदयदेश रहा है। यह अनुभव करना कम आनन्ददायक नहीं है कि भारत का हृदय सांस्कृतिक स्वाधीनता की भावना से ओतप्रोत है, यहाँ तानाशाही की दाल गल नहीं सकती!

जब हम पेरिस में एकत्र कलाकारों और साहित्यकारों के इस महा-मेला में सम्मिलित हो रहे थे, तो हमारे सामने उन शहीदों और वीरों की तस्वीरें थीं, जिन्होंने आत्मा की पुकार पर एक दिन कलम और कूची फेंक कर राइफल और तलवार भी पकड़ी थी। स्पेन, इटली और जर्मनी में की गई उनकी अपूर्व शहादत हम सबके लिए सदा प्रेरणा देती रहेगी। और जो लोग आज भी फौलादी पर्दे के भीतर के देशों में सांस्कृतिक स्वाधीनता की मशाल जलाये हुए हैं, उनके निकट हमारा मस्तक बार बार झुकता था।